द्वितीय बार १५००	१९३०	मूल्य ॥=)

मुद्रक

जीतमल लूणिया

सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर। २१८-८-३०

समर्पण

बहन गोपी !

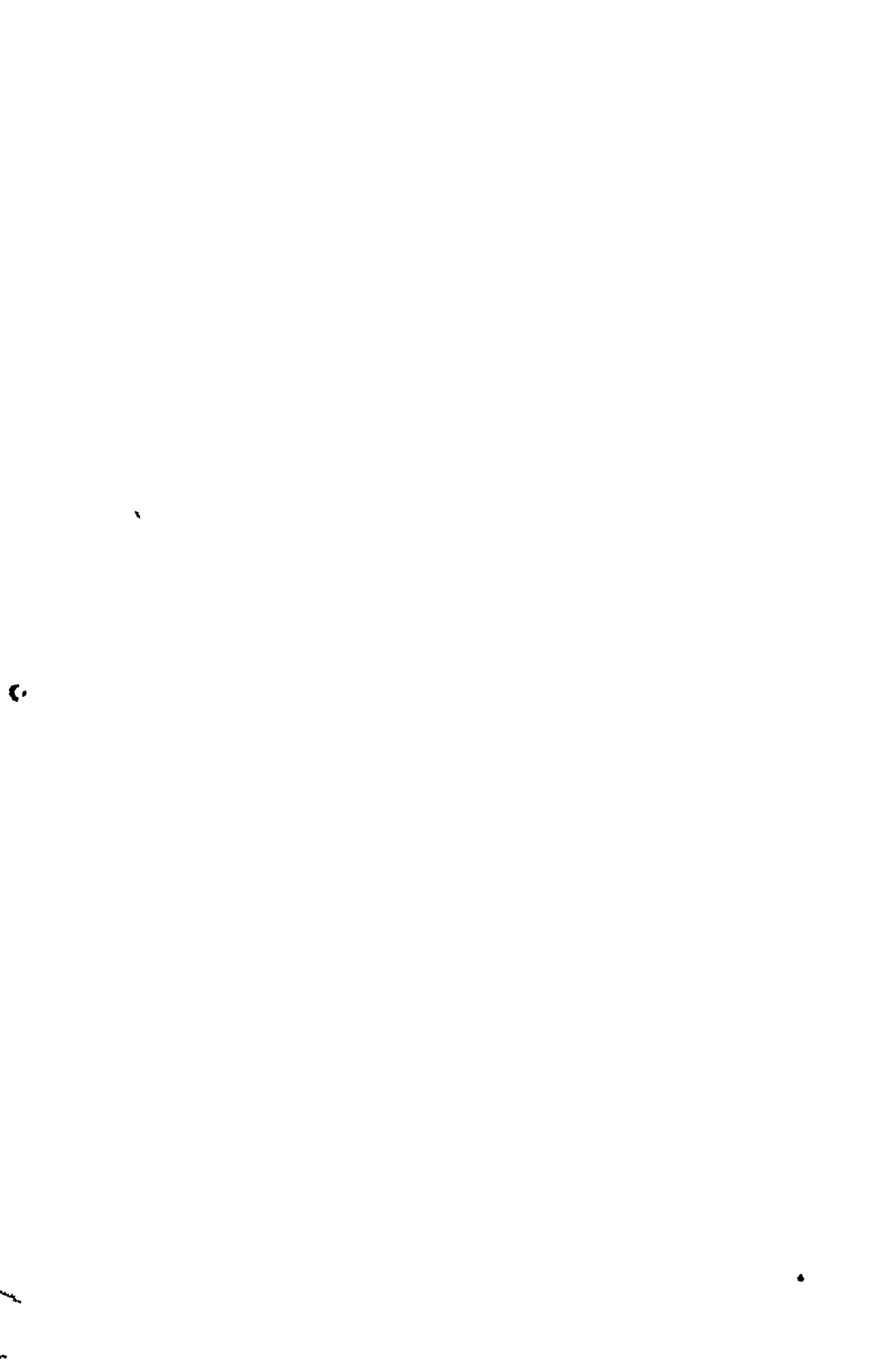
प्रेमपूर्वक मैं यह पुस्तक तुम्हारे उन हाथों में समर्पित करता हूँ कि जिनसे, तुमने, एक बार तलवार पकड़ने की बात कह कर मेरी आँखों में ज्योति और हृदय में गुदगुदी पैदा कर दी थी! तुम्हारी वह बात मुझे कभी नहीं भूली।

उस दिन मैंने सोचा—कौन कहता है कि स्त्री असहाय है ? मैं मानता हूँ, प्यारी बहन, कि तुम लोग शक्ति की खान हो, यदि बहनें उठें तो तुम्हारी-जैसी पवित्र बहनों के भाई क्या कभी गिरे हुए रह सकते हैं ?

ऐ मेरी प्यारी प्यारी बहन ! तुम्हें नमस्कार है। तुम जगो और जगा दो, अपने सोते हुए भाइयों को। आओ, हम सब भाई और बहन मिलकर माता के चरणों की पूजा करें और उसके दुःखों को दूर करने के लिए हँसते-हँसते अपने को उसके ऊपर निसार कर दें !

तुम्हारा एक भाई—

क्षेमानन्द 'राहत'



मनोव्यथा

[आचार्य दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर]

Who touches this book touches a man.

—वाल्ट विटमन

यह किताब नहीं, मनुष्य का हृदय है।

प्रस्तावना का सामान्य उद्देश्य तो पुस्तक और उससे वर्णित विषय का परिचय कराना ही होता है; परन्तु 'हम क्या करें ?' यह पुस्तक नहीं बल्कि एक अत्यन्त समभावी हृदय का मन्थन है, जीवन-शुद्धि की रहस्य-भेदी शोध है; और महावीर को भी शोभा दे, ऐसा एक आर्य-सङ्कल्प है। थोड़े में कहिए तो यह कारुण्य, औदार्य, गाम्भीर्य, और माधुर्य की एक ओजस्वी रसायन है। इसका परिचय नहीं दिया जा सकता। इसकी उपासना होती है, इसका सेवन होता है।

टाल्स्टाय शक्तिशाली कला-विज्ञ थे। उनकी प्रत्येक कृति में औचित्य और प्रसाद-गुण तो होता ही है, पर हृदय को अस्वस्थ बना देनेवाली समवेदना ही उनकी कला की विशेषता है। 'हम क्या करें ?'—यह टाल्स्टाय की सर्वोच्च कोटि की कृति समझी जाती है। जैसा शब्द-चित्रण, भाव-प्रदर्शन और लोक-जीवन का अवगाहन उपन्यासों में होता है, वह सब इसमें है। फिर भी कला की दृष्टि से देखने पर इसमें औचित्य भंग है, इसमें हीनता है, इसमें धर्म-जीवन का अपमान है। सीता का विलाप, द्रौपदी की भीड़, सती का चितारोहण—ये प्रसंग काव्य-कला के लिए नहीं होते। ये तो जीवन को दीक्षा देने के लिए होते हैं। धर्म-पूत हृदय से ही हमें इनका दर्शन करना चाहिए। केवल कला की ही आँखें हों तो ऐसे प्रसङ्ग पर उन्हें मींच लेना चाहिए।

टाल्स्टाय के वर्णित प्रसंग काल्पनिक नहीं हैं, उनके द्वारा की हुई मीमांसा केवल 'तात्विक' नहीं है, और उन्होंने जो जीवन में परिवर्तन

किया था वह भी क्षणिक न था। पुस्तक का प्रारम्भ तो मार्ग में भटकते हुए भिखारियों के सुख-दुःख से होता है, पर इसका मुख्य विषय तो समस्त मानव-समाज का कल्याण है।

पुराणों में हम लोग पृथ्वी का भार बढ़ने की बातें सुनते हैं। क्या लोक-संख्या बढ़ने से पृथ्वी का भार बढ़ता होगा? या जंगलों की वृद्धि से अथवा हिमालय जैसा पहाड़ पानी में से उभड़ आने से? ऐसी बातों से तो पृथ्वी का भार बढ़ने का कोई कारण नहीं। पृथ्वी पर भार होता है आलस का, काहिली का, पाप का, अनाचार का, द्रोह का। टाल्स्टाय ने देखा कि आजकल पृथ्वी पर बहुत भार बढ़ रहा है, और वह असह्य हो रहा है; अब कोई न कोई उत्पात होगा। ज्वालामुखी फूट पड़ेगा अथवा दावानल प्रज्वलित होगा। यह दुःख किस प्रकार टले, इस महान् विनाश से समाज कैसे बचे—इसी की विवेचना इसमें है।

उन्होंने देखा कि रूस में, यूरोप में, सारे संसार में प्रतिष्ठित अकर्मण्य लोगों की संख्या बेहद बढ़ गई है—बढ़ती जाती है और किसी तरह भी रोके नहीं रुकती। इनका आमोद-प्रमोद, इनकी वासनायें, इनके भोग भोगने के साधन बढ़ते ही जाते हैं। ये मस्तराम प्रजा का खून चूसे जा रहे हैं और बदले में समाज को कुछ देते नहीं। इतना ही नहीं, सरकारी ज़बरदस्ती और पैसे के जाल में ग्रसित लोगों को सिर उठाने में भी असमर्थ बनाये दे रहे हैं; अपने मन को फुसलाने के लिए और दुनिया को बहलाने के लिए तरह-तरह की 'फ़िलासफ़ियों' की रचना करते हैं; हमारी स्थिति जैसी होनी चाहिए वैसी ही है, इसीमें सबका कल्याण है, ऐसा सिद्ध करने के लिए कृत्रिक धार्मिक सिद्धान्तों का आविष्कार करते हैं, समाज-शास्त्र गढ़ते हैं और विज्ञान तथा कला को भ्रष्ट करते हैं। इन बातों को उखाड़कर फेंक देना कुछ सहल बात नहीं है। विचारों को जन्म देने तथा उनका प्रचार करने का जिनका इजारा है, ऐसे समस्त मनुष्य समूह से—जिसमें हम लोग भी सम्मिलित हैं—यह अभिमन्यु-

जैसा भी समान युद्ध—एकाकी युद्ध है। परन्तु टाल्स्टाय की लेखन-शक्ति और हरिश्चन्द्र के समान अटल श्रद्धा इस नाम को लक्ष्य तक पहुँचाने के योग्य ही निकली। वह जानते थे, दुनियादार अक्लमन्द लोग चाहे कितने ही क्यों न हों फिर भी उनका बल अपर्याप्त है और हम खुद अकेले ही हों तब भी सत्य-स्वरूप जगदीश के साथ होने से हमारा बल पर्याप्त है।

और टाल्स्टाय ने पृथ्वी का भार हलका करने का उपाय भी कैसा बताया? सनातन काल से जो उपाय बताया गया है, वही—'त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मागृधः कस्यस्विद्धनम्'। टाल्स्टाय ने यह उपाय केवल किताब लिख कर ही बताया हो सो बात नहीं; पर स्वयं सब-कुछ त्याग कर, अकिञ्चन बन कर, यथा-शक्ति अपरिग्रह-व्रत का पालन करके और अन्त में महा-अभिनिष्क्रमण करके उन्होंने लोगों को रास्ता दिखाया।

टाल्स्टाय की कीर्ति यूरोप में खूब बढ़ी-चढ़ी थी। उनकी साहित्य-कला के ऊपर यूरोप न्योछावर हो रहा था। पर जब टाल्स्टाय ने निष्पाप जीवन व्यतीत करने के लिए सर्वस्व छोड़ा तब यूरोप में हाहाकार मच गया। नट, विदूषक और गणिका के रूप में प्रसिद्ध बने बैठे लोगों को तो ऐसा लगा कि कला की हत्या हो गई! टाल्स्टाय ने कला की मर्यादा छोड़ दी। सत्य में प्रवेश किया। 'अति सर्वत्र वर्जयेत'—कला का यह सर्वोच्च नियम भग किया। कला ही जीवन-सर्वस्व है, ऐसा माननेवाले लोगों को भास हुआ कि टाल्स्टाय जीवन के प्रति बेवफ़ा निकला। पशु के साथ जो अपनी समानता है उसे छोड़ने से हम संकुचित ही तो हो जायँगे? पर सच्चे जीवन-कलाविदों ने देखा कि टाल्स्टाय के हाथ से कला कृतार्थ ही हुई है।

कितनों ही ने तो यह निदान निकाला कि टाल्स्टाय ने जबसे मांसाहार छोड़ा तभी से उसकी कला का आवेश धीमा पड़ गया और प्रतिभा क्षीण हो गई। संसार-सुधार का मार्ग छोड़ कर उसने जंगली-पन को ही आदर्श मान लिया। इस प्रकार के अनेक आक्षेपों का टाल्स्टाय

ने इस पुस्तक में ज़बरदस्त निराकरण किया है। किन्तु—'लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति ?' तटस्थ रहकर विचार करनेवाला टाल्स्टाय का चरित्र-लेखक मॉड ठीक ही कहता है कि टाल्स्टाय के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखना और कहना तो अभी तक किसी को सूझा ही नहीं। जो निकलता है सो यही कहता है कि 'टाल्स्टाय का कथन लोक-विचक्षण है—उनका उपदेश आचरण में ढालने योग्य नहीं है; टाल्स्टाय जो चाहते हैं वैसा करने से तो बड़ी अव्यवस्था मच जायगी !' पर इसका प्रतिवाद करनेवाले जो असंख्य पवित्र जीवनप्रद लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उनका विचार ही नहीं करते। मनुष्य ऐसा समझ बैठता है कि जो सुधार हमसे नहीं हो सकता वह सभी मनुष्यों के लिए अशक्य होगा। टाल्स्टाय का दृढ़ विश्वास है कि जिस प्रकार लोगों ने गुलामी की प्रथा को उड़ा दिया है उसी प्रकार धन और सत्ता की यह प्रथा भी अवश्य उड़ ही जायगी। सरकार, जायदाद, पैसा, आलसी लोग और इनका दौरदौरा क़ायम रखने तथा गरीबों को कुचल डालने के लिए खड़ी की हुई सेनायें—ये सब मनुष्य की ही निर्माण की हुई आपत्तियाँ हैं। निष्पाप तथा समृद्ध जीवन व्यतीत करने के लिए इनमें से एक संस्था की भी जरूरत नहीं। बुद्धिमान मनुष्य को सादगी से रहते हुए समाज की अधिक सेवा करनी चाहिए। अधिक ऐशो-आराम में रहना और जोंक की तरह समाज का लोहू पीना बुद्धिमान के लिए उचित नहीं है—इसी एक मुख्य तत्त्व को टाल्स्टाय ने इस पुस्तक में समझाने का उद्योग किया है। विज्ञान और कला से उनका कहना है कि जिनका नमक खाकर तुम जीते हो उनका ही तिरस्कार करके तुम जीवित नहीं रह सकते। प्रजा की कुछ तो सेवा करो। अरे, कुछ नहीं तो असेवा करते तो लजाओ!'

टाल्स्टाय का यह धर्म-प्रबोध लोगों को पसन्द न आया और परिणाम यह हुआ कि इसी पुस्तक में टाल्स्टाय ने स्पष्ट शब्दों में जो चेतावनी दी थी वह आज तीस वर्ष के अन्दर बिलकुल सत्य निकली। मज़दूर-दल

का धैर्य छूटा, प्रजा-क्षोभ छूटा और प्रजा के ही कंधे पर बैठकर प्रजा को लात मारने वाला वर्ग भस्मसात हो गया।

फिर भी गरीबों का दुःख दूर नहीं हुआ। हिंसा का दुःख क्या हिंसा से मिटेगा? लोहू से सना हुआ हाथ क्या लोहू से धोनेसे साफ़ हो सकेगा?

टाल्स्टाय का उपदेश रूस की बनिस्बत हिन्दुस्थान को अधिक लागू होता है। जबतक प्रजा का बोझ हलका नहीं होता और ज़बरदस्ती का दौरदौरा मिटता नहीं, तबतक देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो ही नहीं सकती। यह बात, देश का ख़याल रखने वाले मनुष्यों के हृदय में, यह पुस्तक पढ़ते समय, आये बिना रहती नहीं। पैसा इस अज्ञात ज़बरदस्ती का बड़े से बड़ा वाहन है, यह मान लेने के पश्चात् हिन्दुस्थान का प्रश्न अधिक स्पष्ट हो जायगा।

यदि कोई ऐसा समझता हो कि हिन्दुस्थान में रूस की तरह उत्पात हो ही नहीं सकता, तो यह उसकी भूल है। साथ ही यह भी ठीक है कि रूस जैसा विस्फोट हिन्दुस्थान में भी होगा ही, ऐसी बात भी नहीं है। हिन्दुस्थान में संत-फकीरों का राज्य अन्य देशों की अपेक्षा अधिक फैला हुआ है। हमारी बुद्धि कितनी ही भ्रष्ट क्यों न हो गई हो पर आज भी हमारे हाड़ में द्रोह नहीं है, हिंसा नहीं है। हमारे आद्य-आचार्यों ने शारीरिक श्रम का महत्व समझाया है। परिश्रम छोड़ने से सत्य की हानि होती है। मनुष्य अथवा पशु के कन्धे पर बैठ कर की हुई जीवन-यात्रा निष्फल है, यह हम जानते हैं।

यल्लभसे निज कर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तं।
अर्थमनर्थं भावय नित्यं, मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णां॥

यह उपदेश अभी केवल पोथी का बन्द कीड़ा ही नहीं है। रुपया-पैसा ख़राब मैली चीज़ है, यह बात भी टाल्स्टाय ने नई नहीं कही है।

द्रव्यं तु मुद्रितं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रेण शुचिर्भवेत्।

ऐसे-ऐसे वचन हमारे यहाँ पड़े हुए हैं। पर हम लोगों ने ये सब

धर्म-तत्त्व साधु-संन्यासियों के सुपुर्द कर दिये और धर्म को अपने से दूर रक्खा। पर धर्म टालने से क्या टलने वाला था? मछली के लिए जैसा जल है वैसा ही मनुष्य के लिए धर्म है। राजी-खुशी न समझेंगे तो मजबूर होकर तो समझना ही पड़ेगा। पाप कुछ सिक्कों में—सफेद या पीली चमकती हुई मिट्टी के गोल टुकड़ों में नहीं बल्कि समाज के हृदय में होता है, यह ठीक है। फिर भी आज यह सिक्के लोभी, निर्दय और ज़बरदस्त लोगों के हाथ के अस्त्र-शस्त्र बन गये हैं, यह बात कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। टाल्स्टाय का कहना है कि नीरोग मनुष्य को दवा की जितनी आवश्यकता होती है बस उतनी ही निष्पाप जीवन व्यतीत करनेवाले समाज को रुपये की जरूरत हो सकती है।

पर टाल्स्टाय की यह पुस्तक? यह बहुत ही ख़राब किताब है। यह हमें जागृत करती है, अस्वस्थ करती है, धर्म-भीरु बनाती है। यह पुस्तक पढ़ने के बाद भोग-विलास तथा आनन्दोल्लास में पश्चात्ताप का कड़वा कंकड़ पड़ जाता है। अपना जीवन सुधारने पर ही यह मनोव्यथा कुछ कम होती है। और जो इन्सानियत का ही गला घोंट दिया जाय तब तो कोई बात ही नहीं।

इस पुस्तक का पढ़ना सरल नहीं है। यह ऐसी है कि संस्कारी अथवा सात्त्विक वृत्तिवाले मनुष्य को अन्त तक न छोड़े। यूरोपीय समाज को लक्ष्य में रख कर लिखे जाने के कारण ईसाइयों की तौरेत तथा इन्जील में से खूब उदाहरण दिये गये हैं। कॉन्ट, हेगल, वॅगनर आदि पाश्चात्य दार्शनिकों और कला-कोविदों की मीमांसा आती है। इन सब बातों को समझना ज़रा मुश्किल तो ज़रूर है, पर भाषान्तरकार योग्य * मिलने से बहुत-सी मुश्किलें दूर हो गई हैं। गुजरात आज अपने साधु-सन्तों की अपेक्षा अपनी द्रव्यार्जन-शक्ति पर घमण्ड करता हो तो गुजरात को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। कुछ तो विचार करना ही पड़ेगा।

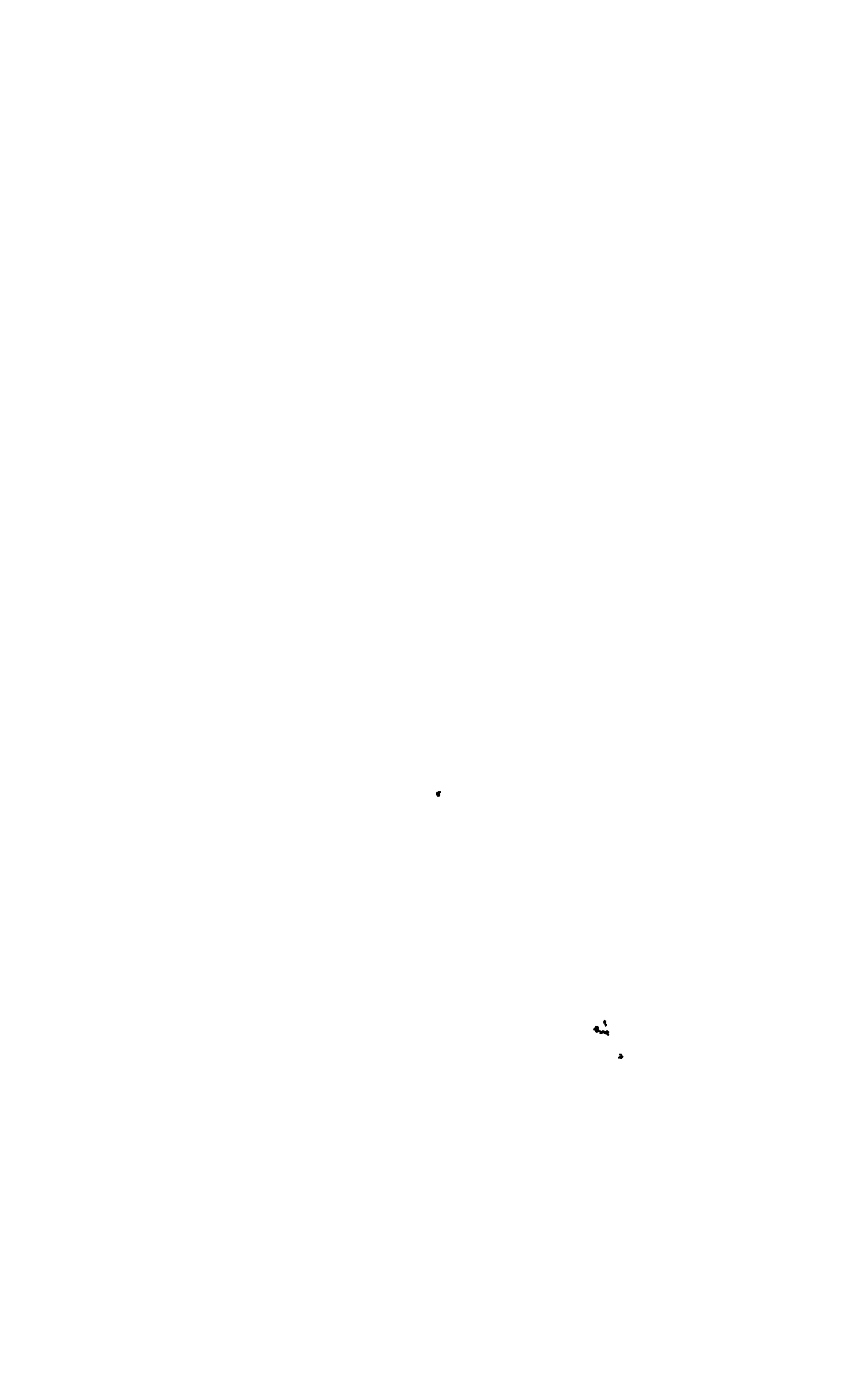
---

* गुजराती भाषान्तरकार के लिए यह लिखा गया है।

क्या करें ?

टाल्स्टाय

(पहला भाग)



और लोग उनसे पूछने लगे, 'फिर हम करें क्या ?'

उन्होंने उत्तर दिया—जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उसे दे दे कि जिसके पास एक भी नहीं है; और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।

❀ ❀ ❀

इस पृथ्वी पर अपने लिए धन ज़मा मत करो, क्योंकि काई और कीड़े उसे नष्ट कर देते है अथवा चोर उसे चुरा ले जाते हैं।

किन्तु तुम अपने लिए स्वर्ग में धन जमा करो कि जहाँ न काई लगती है और न कीड़े खाते हैं और न चोर ही दरवाज़ा तोड़ कर उसे चुरा ले जा सकते है।

फिर, जहाँ तुम्हारा धन होगा, वहीं तुम्हारा दिल भी रहेगा।

❀ ❀ ❀

आँख शरीर का दीपक है; इसलिए यदि तुम्हारी आँख स्थिर है, तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से पूर्ण होगा।

किन्तु यदि तुम्हारी आँख में बुराई है, तो तुम्हारे शरीर

भर में अन्धकार का साम्राज्य होगा: और यदि तुम्हारी अन्त-र्ज्योति ही तिमिरावृत्त है, तब तो फिर तुम्हारे अन्दर कितना गहरा अन्धकार होगा ?

कोई भी दो मालिकों की नौकरी कर नहीं सकता; क्योंकि या तो वह एक से घृणा करेगा और दूसरे से प्रेम, या वह एक की सेवा करेगा और दूसरे की उपेक्षा। तुम ईश्वर और माया दोनों के होकर नहीं रह सकते !

इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने जीवन में यह चिन्ता मत करो कि मैं क्या खाऊँगा और क्या पिऊँगा, और न शरीर के लिए यह सोचो कि इसे क्या पहनाऊँगा। क्या जीवन स्वयं ही भोजन से बढ़कर और काया कपड़ों से अधिक मूल्यवान नहीं है ?

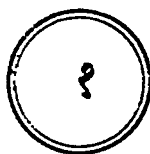
  

बस, तुम ईश्वर के राज्य और उसके धर्म-मार्ग की ही खोज करो और बाकी ये सब चीजें तुम्हें स्वयं ही मिल जायँगी।

सुई के नकुए में से ऊँट का निकल जाना तो सम्भव है, किन्तु अमीर आदमी के लिए स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।





जीवन का अधिकांश भाग देहात में व्यतीत करने के बाद आखिरकार सन् १८८१ में मास्को में निवास करने के लिए मैं आया और उस नगर की हद से बढ़ी हुई दरिद्रता को देख कर मैं दुःखित और चकित हुआ। वैसे तो देहात के ग़रीब आदमियों के कष्टों से मैं भली-भाँति परिचित था, किन्तु मुझे इसका ज़रा भी ख़याल न था कि नगरों में उनकी कैसी दुर्दशा है।

मास्को की किसी भी सड़क से कोई मनुष्य गुज़रे, उसे एक विचित्र प्रकार के भिखारी मिलेंगे, जो उन भिखारियों से बिलकुल भिन्न होंगे कि जो झोली लेकर ईसा के नाम पर देहातों में भीख माँगते हैं। मास्को के भिखारी न तो झोली लेकर चलते हैं और न भीख माँगते हैं। प्रायः जब वे किसी से मिलते हैं तो उसकी आँख से आँख मिलाने की कोशिश करते हैं और उसके मुख का भाव देखकर उसके अनुसार व्यवहार करते हैं।

मैं इस प्रकार के एक भिखारी को जानता हूँ—वह एक दिवालिया सद्गृहस्थ है। वह वृद्ध है, धीरे-धीरे चलता है और दोनों पैरों से लँगड़ाता है। जब कोई पास से निकलता है तो वह लँगड़ा कर चलता है और सलाम करता है। यदि जानेवाला ठहर जाता है तो वह अपनी टोपी उतार लेता है, फिर झुक कर सलाम करता है और माँगता है। यदि वह आदमी नहीं ठहरता है तब कुछ नहीं, वह

२

केवल लँगड़ाने का बहाना करता है और उसी तरह लँगड़ाता हुआ चलता रहता है। यह मास्को के एक असली और अनुभवी भिक्षुक का नमूना है।

पहले तो मैं यह समझ नहीं सका कि ऐसे भिक्षुक खुले तौर पर क्यों नहीं माँगते। किन्तु पीछे मुझे यह मालूम हुआ, हालांकि उसका कारण नहीं समझ पाया। एक दिन मैंने देखा कि एक पुलिस का सिपाही एक फटे कपड़े वाले आदमी को, जिसका बदन सूजा हुआ है, ताँगे में विठाये लिये जा रहा है। मैंने जब पूछा कि इसने क्या किया है, तब पुलिसवाले ने कहा—

'भीख माँगता था।'

मैंने पूछा—'तो क्या भीख माँगना मना है ?'

उसने उत्तर में कहा—'ऐसा ही मालूम होता है।' पुलिसवाला उसको लिये जा रहा था। मैं भी एक किराये की गाड़ी करके उसके पीछे हो लिया। मैं यह मालूम करना चाहता था कि क्या भीख माँगना वास्तव में मना है, और यदि है तो क्यों ? मेरी तो यह समझ ही में नहीं आता था कि यह किस तरह सम्भव हो सकता है कि किसी आदमी से कुछ माँगना वर्जित कर दिया जाय—और, खास कर, एक यह सन्देह मेरे मन में था कि जिस नगर में इतने भीख माँगने वाले हैं वहाँ भीख माँगना नियम-विरुद्ध कैसे हो सकता है ?

मैं कोतवाली के अन्दर गया कि जहाँ उस भिक्षुक को सिपाही ले गया था। मेज़ के पास बैठे हुए एक कर्मचारी से, जो तलवार और तमंचे से सज्जित था, मैंने पूछा कि यह क्यों गिरफ्तार किया गया है ? उस कर्मचारीने तेज़ी से मेरी ओर देख कर कहा—

'तुम्हें इससे क्या मतलब ?' किन्तु शायद यह समझ कर कि कुछ जवाब देना जरूरी है, उसने कहा—'सरकार का हुक्म है कि ऐसे लोगों को गिरफ्तार कर लिया जाय। इसीलिए मैं समझता हूँ कि ऐसा करना जरूरी है।'

मैं चला आया। पुलिसवाला जो उस आदमी को पकड़कर लाया था, एक कोठरी की खिड़की में बैठा हुआ अपनी नोट-बुक देख रहा था। मैंने उससे कहा—

'क्या वास्तव में यह सच है कि गरीब आदमियों को ईसा-मसीह के नाम पर माँगने की इजाजत नहीं है ?'

वह आदमी चौंका, मानों नींद से जगा हो। उसने एक बार घूर कर मेरी ओर देखा, और फिर गहरी लापरवाही के साथ खिड़की की चौखट पर जमकर कहा—

'सरकार की ऐसी ही आज्ञा है और इसलिए ऐसा करना जरूरी है।'

चूँकि वह फिर अपनी नोटबुक पढ़ने में मग्न हो गया, मैं नीचे उतर कर अपनी गाड़ी के पास चला आया।

गाड़ीवाले ने पूछा—'क्यों, क्या उसे बन्द कर दिया ?'

मालूम होता था, उसे भी कुछ दिलचस्पी थी।

मैंने कहा—'हाँ, उन्होंने बन्द कर दिया है।' सुन कर गाड़ी-वान ने सिर हिलाया।

मैंने पूछा—'तो क्या मास्को में भीख माँगना वर्जित है ?

'नहीं, मैं बता नहीं सकता'—उत्तर में उसने सिर्फ इतना ही कहा।

मैंने फिर कहा—'किन्तु ईसामसीह के नाम पर भीख माँगने से किसी को क़ैद कैसे किया जा सकता है ?'

उसने उत्तर दिया—'आजकल स्थिति बदल गई है, बस मतलब यह है कि वह मना है।'

तबसे मैंने अक्सर पुलिसवालों को भिखारियों को पकड़ कर कोतवाली और वहाँ से कारखाने ले जाते हुए देखा। एक दिन तो मैंने इन दीन जीवों की टोली की टोली देखी, कुल मिला कर लगभग ३० आदमी थे और उनके आगे और पीछे सिपाही थे। मैंने पूछा—'क्या बात है ?'

जवाब मिला—'भीख माँगते थे।'

ऐसा प्रतीत होता है कि नियम के अनुसार मास्को में भीख माँगना वर्जित है, यद्यपि सड़कों पर भिखारियों की बड़ी संख्या दिखाई पड़ती है और पूजा के समय, गिरजाघरों के सामने, उनकी कतार की कतार होती है—खास कर श्मसान-यात्रा के अवसर पर। लेकिन यह क्या बात है कि कुछ तो पकड़ कर क़ैद कर दिये जाते हैं और बाक़ी आज़ाद फिरते रहते हैं ? मैं इस बात का पता न लगा सका। या तो कानूनी और ग़ैरक़ानूनी दो तरह के भिखारी होते हैं, या उनकी संख्या इतनी बढ़ी हुई है कि सबको गिरफ्तार करना असम्भव है, या शायद यह बात है कि कुछ लोग पकड़े जाते हैं तो दूसरे उनकी जगह पैदा हो जाते हैं।

मास्को में भिखारियों की कई श्रेणियाँ हैं। कुछ तो ऐसी हैं कि जिनका पेशा ही भीख माँगना है। कुछ ऐसी भी हैं कि जो सच-मुच ही नितान्त कंगाल हैं, किसी तरह मास्को में आ पड़ी हैं और वास्तव में बड़ी मुसीबत में हैं।

पिछली श्रेणी में वे स्त्री और पुरुष हैं कि जो गाँवों से आये हुए दीखते हैं। मैं कई वार इनसे मिला हूँ। कुछ लोग ऐसे थे कि जो वीमार पड़ गये थे और अच्छे हो जाने पर अस्पताल छोड़ने के वाद उनके पास न तो खाने को कुछ था और न मास्को से चले जाने का साधन, और उनमें से कुछ को तो शराव पीने की भी चाट पड़ गई थी। कुछ तन्दुरुस्त थे, पर घर से निकाल दिये गये थे, या अति वृद्ध थे, या वच्चोंवाली विधवा, अथवा परित्यक्ता स्त्रियाँ थीं; और कुछ तो खूव हृष्ट-पुष्ट और हर तरह से काम करने लायक थे।

इन हृष्ट-पुष्ट लोगों से मुझे खास दिलचस्पी पैदा हो गई थी। इसलिए और भी अधिक कि मास्को में आने के वाद व्यायाम के लिए स्पैरो पहाड़ी जाने की मेरी आदत-सी पड़ गई थी और मैं वहाँ लकड़ी चीरनेवाले कृषकों के साथ काम भी करता था। ये लोग ठीक उन भिखारियों की तरह थे कि जो प्रायः मुझे सड़कों पर मिलते थे। एक का नाम पीटर था, वह काल्हूंगा का रहने वाला था और सैनिक रह चुका था। दूसरे का नाम साइमन था और वह लादिमीर प्रान्त का था। पहने हुए कपड़ों के सिवा उनके पास कुछ न था, खूव मेहनत करने पर प्रतिदिन उन्हें चालीस-पैंतालीस कोपक अर्थात् ८ या ९ शिलिंग मिलते थे। इसमें से वे कुछ वचत कर लेते थे—काल्हूँगा का सिपाही तो गरम कोट खरीदना चाहता था और लादिमीर का कृषक गाँव को वापस जाने का इरादा करता था।

इसी तरह के ग्रामवासियों को सड़क पर भीख माँगते देख कर मेरा ध्यान इनकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। और

मेरे मन में यह कुतूहल हुआ कि ये लोग भीख क्यों माँगते हैं, जब कि ये दोनों काम करते हैं ?

जब कभी मैं इस प्रकार के भिक्षुक से मिलता तो मैं पूछता कि उसकी यह दशा कैसे हुई ? एक बार मैं एक बलिष्ट और स्वस्थ कृषक से मिला, जो भीख माँगता था। मैंने उससे पूछा, 'तुम कौन हो और कहाँ से आये हो ?'

उसने बताया कि काम की तलाश में वह कालूंगा से आया था। पहले तो उसे ईंधन चीरने का कुछ काम मिल गया, लेकिन जब काम खत्म हो गया तो उसके और उसके साथी के बहुत ढूँढने पर भी दूसरा कोई काम न मिला। उसका साथी उसे छोड़कर चला गया और उसने अपने पास का सब कुछ उदर-पूर्ति के लिए बेच डाला। यहाँ तक कि अब उसके पास लकड़ी चीरने का सामान खरीदने तक को कुछ न था।

आरा खरीदने के लिए मैंने उसे रुपया दिया और काम के लिए स्थान भी बता दिया। पीटर और साइमन से मैंने पहले ही कह रक्खा था कि एक आदमी को वे रख लें और उसके लिए एक साथी तलाश कर लें।

चलते समय मैंने उससे कहा—'देखो आना जरूर ! करने के लिए वहाँ काम बहुत है।'

'विश्वास रखिए, मैं अवश्य आऊँगा। क्या आप समझते हैं कि इस तरह दर-दर भीख माँगते फिरने में मुझे कोई आनन्द आता है, जब कि मैं काम कर सकता हूँ ?'

उस आदमी ने आने का पक्का वादा किया था; वह ईमानदार मालूम पड़ता था और सचमुच ही काम करने के लिए तैयार था।

दूसरे दिन जब मैं अपने मित्र पीटर और साइमन के पास गया, तो उनसे पूछा कि क्या वह आदमी आया था ? उन्होंने कहा, नहीं आया—और,सचमुच वह नहीं आया था। इस तरह मैंने कई बार धोखा खाया।

मुझे कुछ ऐसे लोगों ने भी ठगा कि जिन्होंने मुझसे कहा कि घर जाने के लिए टिकट खरीदने भर के लिए रुपये की ज़रूरत है। मैंने उन्हें रुपया दिया, किन्तु कुछ दिनों बाद फिर मुझे वे सड़कों पर मिले। उनमें से बहुतों को तो मैं अच्छी तरह जान गया था और वे भी मुझे पहचानते थे। लेकिन कभी भूल से वे मेरे पास आते और फिर वही झूठा किस्सा दुहराते, लेकिन मुझे पहचान कर उलटे पाँव चले जाते।

इस तरह मैंने देखा कि इस श्रेणी के लोगों में भी बहुत से धूर्त हैं। किन्तु ये कंगाल धूर्त भी बहुत ही दयनीय अवस्था में थे। वे सब फटे चीथड़े पहने और भूखे थे और उन्हीं तरह के लोगों में से थे कि जो सर्दी से ठिठुर कर सड़क पर मरे हुए मिलते हैं, या जीवन को इस दुर्दशा से बचने के लिए फाँसी लगा कर मर जाते हैं, जैसा कि बहुधा समाचारपत्रों में हम पढ़ते हैं।



जब कभी मैं नगर के लोगों से इस बीभत्स दरिद्रता का ज़िक्र करता कि जो उनके चारों ओर फैली हुई थी, तो वे सदा यही उत्तर देते—ओह, तुमने अभी देखा ही क्या है ? यदि तुम असली भिखारियों के 'सुनहले मण्डल' को देखना चाहते हो, तो ज़रा खित्रोफबाज़ारमें जाकर वहाँ की स्थिति को देखो।

मेरे एक मसखरे मित्र ने संशोधन पेश करते हुए कहा कि इन भिखारियों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि उसे 'सुनहला मण्डल' न कह कर 'सुनहला दल' कहा जा सकता है।

मेरे हास्य-प्रिय मित्र का कथन सत्य था। पर उनका कथन सत्य के और भी निकट होता, यदि वह कहते कि मास्को में इन लोगों का मण्डल नहीं, दल भी नहीं, बल्कि एक पूरी सेना की सेना है—और वह सेना, मेरा ख़याल है, लगभग पचास हज़ार लोगों की है।

नगर-निवासी जब मुझसे शहर की ग़रीबी का ज़िक्र करते तो उन्हें कुछ हर्ष या अभिमान-सा होता हुआ दिखाई देता था। और वह शायद इसलिए कि उनके मन में यह भावना पैदा होती कि वे वस्तु-स्थिति से इतने अधिक परिचित हैं। मुझे याद है, जब मैं लंदन गया था तो वहाँ के नागरिक भी अपने नगर की दरिद्रता का वर्णन करते समय एक प्रकार का सन्तोष-सा अनुभव करते थे, मानों वह कोई गर्व की बात हो।

जिस दरिद्रता के सम्बन्ध में मैंने इतनी बातें सुनी थीं, उसे

आँख से देखने को मेरी इच्छा थी। कई बार मैं खित्रोफ बाज़ार की ओर चला भी, किन्तु हर दफा लज्जा और पीड़ा की अनुभूति का मुझे अनुभव हुआ। मेरे अन्तर में किसी ने कहा—'जिन्हें तुम सहायता नहीं पहुँचा सकते, उनके कष्टों को देखने क्यों जाते हो?' इसके उत्तर में आवाज़ आई—'जब तुम यहाँ रहते हो और नागरिक जीवन की सभी सुन्दर आनन्दप्रद बातों को देखते हो, तो जाकर उन बातों को भी देखो कि जो दुःख-प्रद हैं।'

बस, एक दिन दिसम्बर मास में, जब कि खूब सर्दी थी और तेज़ हवा चल रही थी, मैं नगर की दरिद्रता के केन्द्र खित्रोफ बाज़ार की ओर गया। वह छुट्टी का नहीं, काम-काज का दिन था और शाम के चार बजे थे। मैंने दूर से ही देखा कि अनेकों आदमी विचित्र कपड़े पहने हुए हैं—स्पष्ट ही मालूम होता था कि वे कपड़े उनके लिए नहीं बनाये गये थे—और उनके जूते तो और भी विचित्रतापूर्ण थे। उनके चेहरे कान्तिहीन और रोग की छाया से ग्रसित थे और सभी की मुखाकृति से ऐसा मालूम होता था कि उनके चारों ओर जो कुछ हो रहा है उससे वे बिलकुल उदासीन हैं—उससे मानों उन्हें कुछ मतलब ही नहीं।

उनकी वेश-भूषा इतनी विचित्र और नितान्त बेढंगी होने पर भी वे सबके सब निश्चिन्त भाव से एक ही ओर को चले जा रहे थे। उन्हें इस बात का तो ज़रा भी ख़याल होता दिखाई न देता था कि उनके विचित्र वेष को देखकर लोग अपने मन में क्या कहेंगे! मुझे रास्ता मालूम न था, फिर भी मैंने पूछा नहीं। बस, उन लोगों के पीछे चलता रहा और खित्रोफ बाज़ार में जा पहुँचा। वहाँ पहुँच कर मैंने देखा कि बहुत-सी स्त्रियाँ भी वैसी ही

थेगड़ी पोशाकें पहने हुए हैं। उनकी टोपी, लबादे, वण्डी, और बूट आदि फटे हुए हैं; लेकिन फिर भी वे निःसंकोच भाव से बैठी हुई थीं, इधर-उधर घूमती थीं, सौदा करती थीं और एक-दूसरे को गालियाँ देती थीं—इनमें तरुणी और वृद्धा सभी तरह की स्त्रियाँ थीं।

मालूम होता था कि बाजार का समय ख़त्म हो गया था; क्योंकि वहाँ अधिक लोग न थे, और जो थे उनमें से अधिकांश बाजार में होकर पहाड़ी पर जा रहे थे। मैं भी उनके पीछे हो लिया। मैं ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता था उसी एक सड़क पर जाने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जाती थी। बाजार से निकल कर मैं एक गली में आया, तो मुझे दो स्त्रियाँ मिलीं। उनमें एक जवान थी और दूसरी बूढ़ी। दोनों भूरे रंग के कुछ फटे कपड़े पहने हुए थीं। वे चलती जाती थीं और किसी काम के सम्बन्ध में बात-चीत करती जाती थीं।

प्रत्येक बात के साथ एक न एक वाहियात शब्द भी वे अवश्य बोलती थीं। नशे में कोई भी न थी, पर दोनों को अपने-अपने काम की धुन थी। आने-जानेवाले लोग तथा आगे-पीछे चलनेवाले उनकी बातों पर जरा भी ध्यान न देते; पर मेरे कानों को तो वे बड़ी ही विचित्र और कटु मालूम होती थीं। मालूम होता है, उस तरफ़ के लोगों की बातचीत का ढङ्ग ही यही था। भीड़ के कुछ लोग तो बाईं तरफ के मकानों में घुस गये और बाकी लोग पहाड़ी पर चढ़ कर एक बड़े मकान की ओर जा रहे थे। मेरे साथ जो लोग चल रहे थे उनमें से अधिकांश तो इस मकान में चले गये। इस मकान के आगे तरह-तरह के आदमी थे;

कुछ खड़े थे कुछ बैठे थे। कुछ तो फ़ुट-पाथ पर थे और कुछ खुली हुई जगह में, जहाँ बर्फ़ पड़ रही थी।

द्वार के दाहिनी तरफ़ स्त्रियाँ थीं और बाईं ओर पुरुष थे। मैं कभी तो आदमियों के पास से होकर निकला और कभी औरतों के पास से, कि जो सैकड़ों की संख्या में थीं, और जहाँ पर यह भीड़ समाप्त होती थी वहीं जाकर मैं ठहर गया। जिस मकान के पास हम लोग खड़े थे वह 'ल्यापिन अनाथावास' था। भीड़ उन लोगों की थी, जो रात्रि में सोने के लिए अन्दर जाना चाहते थे। शाम को पाँच बजे मकान का द्वार खुलता है और भीड़ को अन्दर जाने दिया जाता है। मैं जिन लोगों के पीछे-पीछे आ रहा था, प्रायः वे सभी लोग यहीं आ रहे थे।

जहाँ पर मनुष्यों की पंक्ति समाप्त होती थी, मैं वहीं पर खड़ा रहा। जो लोग मेरे पास थे, वे ग़ौर से मेरी ओर देख रहे थे; यहाँ तक कि मेरा ध्यान भी उनकी ओर आकर्षित हुआ। उनके शरीर पर जो चीथड़े थे, वे विभिन्न प्रकार के थे; लेकिन उन सब-की आँखों का भाव तो एक ही सा था। उनकी आँखें मानों कह रही थीं—'ऐ दूसरी दुनिया के मनुष्य! तुम यहाँ हमारे साथ क्यों खड़े हो? तुम कौन हो? क्या तुम कोई आत्म-तुष्ट धनिक हो कि जो हमारी दुर्दशा देख कर अपने को प्रसन्न करने, अपने राग-रंग का मज़ा बदलने के लिए तथा हमें चिढ़ाने के लिए आये हो? या तुम वह हो कि जो कहीं होता ही नहीं और जिसका होना सम्भव भी नहीं—एक दयालु मनुष्य कि जिसके हृदय में हमारे लिए कुछ करुणा या ममता हो?'

सभी के चेहरों पर यही प्रश्न था। उनमें से हरएक मेरी

ओर देखता था, मेरी नज़र से नज़र मिलाता था और फिर मुँह फेर लेता था। मैंने चाहा कि मैं कुछ लोगों से बात करूँ, पर कुछ देर तक तो मुझे ऐसा करने का साहस नहीं हुआ। किन्तु यों हीं एक-दूसरे की नज़रों ने धीरे-धीरे हम लोगों का परिचय करा दिया और हम लोगों ने महसूस किया कि हमारी सामाजिक स्थिति कितनी ही विभिन्न क्यों न हो फिर भी हम भाई-भाई हैं—मनुष्य हैं। धीरे-धीरे हम लोगों का भाव जाता रहा।

मेरे पास ही एक किसान खड़ा था, जिसकी दाढ़ी लाल थी और मुँह सूजा हुआ था। उसकी बंडी फटी हुई थी, और फटे हुए फुलबूट में से उसके पाँव निकले हुए थे, हालाँ कि बर्फ खूब पड़ रहा था। तीसरी या चौथी बार हमारी नज़र मिली और मेरा मन उसकी ओर ऐसा खिंच गया कि अब उससे बोलने में नहीं, न बोलने में लज्जा थी। मैंने पूछा—'तुम्हारा घर कहाँ है ?'

उसने उत्सुकता-पूर्वक उत्तर दिया—'मैं स्मालेस्क से काम की तलाश में आया था। कर चुकाने तथा खाने की चीजें मोल लेने के लिए रुपये की ज़रूरत थी।'

इस बीच में लोग हमारे पास इकट्ठे होने शुरू हो गये।

उसने कहा—'आजकल कोई काम नहीं मिलता। सारा काम सिपाहियों ने ले लिया है। मैं इधर-उधर भटकता फिरता हूँ और ईश्वर जानता है कि दो दिन से मैंने कुछ भी नहीं खाया है।'

उसने लजाते हुए, कुछ हँसने की चेष्टा करते हुए, यह अंतिम बात कही थी। पास ही स्बिटन* बेचनेवाला एक बूढ़ा सिपाही खड़ा था। मैंने उसे बुलाया। उसने स्बिटन का एक प्याला भरा।

* चाय की तरह का पीने का पदार्थ

ग्राम-वासी ने गरम-गरम प्याला हाथ में लेकर पीना शुरू किया। पहले तो उसने उससे अपने हाथ सेके, क्योंकि इतनी मँहगी गर्माई को वह व्यर्थ कैसे जाने दे सकता था? इस तरह हाथ सेकते-सेकते उसने अपने अनुभवों का वर्णन करना शुरू किया।

इन लोगों की जीवन-घटनायें, या कम से कम वे कहानियाँ कि जो ये लोग सुनाते हैं, प्रायः सदा ही एकसी होती हैं। उसे कुछ काम मिला था, वह समाप्त हो गया, और यहाँ अनाथावास में उसका बटुआ किसी ने चुरा लिया, जिसमें उसके रुपये और पासपोर्ट आदि थे। अब वह मास्को से बाहर जाने में असमर्थ है।

उसने कहा कि दिन में तो वह किसी सदावर्त में ठंडा-बासी जो कुछ थोड़ा-बहुत मिल जाता है वही खाकर और ताप कर समय व्यतीत करता है और रात में इसी ल्याभिन-गृह में पड़ा रहता है, जहाँ उसे कुछ देना नहीं पड़ता। उसने यह भी कहा कि वह तो गश्त लगाने वाले सिपाहियों की प्रतीक्षा ही कर रहा है, ताकि वे आवें और पासपोर्ट न होने के कारण उसे गिरफ्तार कर ले जायँ। इस तरह वह अपनी ही जैसी स्थितिवाले लोगों के साथ सरकारी खर्च से अपने जन्मस्थान को भेज दिया जायगा।

'सुनते हैं कि बृहस्पतिवार को निरीक्षण होने वाला है, उसी दिन मैं पकड़ लिया जाऊँगा; बस, तबतक किसी न किसी तरह मुझे गुजारा करना है।' (जेलखाना और उसकी वह अनिवार्य यात्रा तो मानों उसे स्वर्ग जैसी ही मालूम होती थी) जब वह ये बातें कह रहा था, भीड़ में से दो-तीन आदमियों ने कहा कि उनकी भी ठीक यही स्थिति है।

एक लम्बी नाक वाला पतला-दुबला युवक, जिसके शरीर पर

सिर्फ एक कुर्ता था और वह भी कन्धों के पास फटा हुआ था, सिर पर फटी-टूटी टोपी रक्खे हुए, भीड़ में से निकल कर, मेरे पास आया। वह बुरी तरह काँप रहा था; और ज्यों ही हमारी नजरें मिलीं, उसने कृपक की ओर देखकर तिरस्कारपूर्ण भाव से हँसने की चेष्टा की। और वह शायद इसलिए कि वह दिखाना चाहता था कि मैं कृषक से बड़ा हूँ।

मैंने उसे भी स्बिटन का एक गिलास दिलाया। पहले मनुष्य की भाँति उसने भी गिलास से अपने हाथ सेंके; किन्तु ज्यों ही उसने बोलना शुरू किया, एक ऊँचे श्यामवर्ण के मनुष्य ने आकर उसे एक ओर हटा दिया। उसकी नाक तोते की तरह टेढ़ी और सिर नंगा था, और वह पतली कमीज व वास्कट पहने हुए था। उसने भी पीने के लिए स्बिटन माँगी।

इसके बाद जो आदमी स्बिटन पीने आया वह पतली दाढ़ी वाला लम्बे क़द का एक बूढ़ा था, जो ओवरकोट पहने हुए था और एक डोरी उसकी कमर में लिपटी हुई थी। उसके जूते छाल के थे और वह पिये हुए था।

इसके पीछे एक लड़का आया, जिसका मुँह सूजा हुआ था और आँखें तर थीं। वह एक छोटा-सा भूरा कोट पहने हुए था, फटी हुई पतलून में से उसके घुटने बाहर निकल रहे थे और मारे सर्दी के एक-दूसरे से टकरा रहे थे। वह इतना ठिठुर गया था और इतना काँप रहा था कि वह गिलास को पकड़ न सका और सारा स्बिटन उसके कपड़ों पर गिर पड़ा। दूसरे लोग उसे गालियाँ देने लगे, पर वह बेचारा काँप रहा था और करुणार्द्र भाव से हँस रहा था।

इसके बाद एक भद्दी सूरत का, विकृत अंगोंवाला आदमी आया, जो चीथड़े पहने था और नंगे पाँव था। फिर तो तरह-तरह के लोग मेरे नजदीक आने लगे; कोई तो राजकर्मचारी-जैसा था, कोई पादरी के समान था, और एक के तो नाक ही न थी। पर ये सब भूखे, शीत-पीड़ित, अत्यन्त दीन और कारुण्य-मूर्ति थे। सब मेरे पास आकर टिकट माँगने लगे। जब टिकट समाप्त हो गई तब एक ने कुछ पैसे माँगे; उसकी देखा-देखी दूसरे ने, फिर तीसरे ने, और फिर तो सभी पैसे माँगने लगे। इतने में पड़ोस के मकानवाले चौकीदार ने डपट कर कहा, 'हमारे घर के सामने से हट जाओ।' लोग सुनते ही चुपचाप वहाँ से हट आये। उस मण्डली में से कुछ लोगों ने स्वयं-सेवक बन कर मेरी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। वे मुझे भीड़ में से निकाल कर ले जाना चाहते थे, लेकिन जो समूह अभी दूर तक फुटपाथ पर फैला हुआ था वह अब सिमट कर धक्का-मुक्की करता हुआ मेरे पास आने की चेष्टा करने लगा। हरएक मेरी तरफ देखता था और माँगता था। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रत्येक मनुष्य की मुखाकृति दूसरे की अपेक्षा अधिक करुणोत्पादक और दीन-हीन थी। मेरे पास जो कुछ था वह सब मैंने उन्हें दे दिया—सब मिला कर लगभग २० रूबल होंगे। भीड़ के साथ ही मैं भी अनाथालय में घुसा।

यह मकान सादा और खूब बड़ा था तथा उसमें चार भाग थे। छत के ऊपर आदमियों के रहने का स्थान था और नीचे स्त्रियों के लिए। पहले मैं स्त्रियों के वास-गृह में गया। यह एक बड़ा कमरा था, जिसमें रेल के तीसरे दर्जे की बैठकों की तरह

ऊपर-नीचे दो क़तारों में सोने के लिए तख्ते लगे हुए थे। फटे-पुराने कपड़े पहने, विचित्र आकृति-प्रकृति की स्त्रियाँ, बूढ़ी और जवान, आ-आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करने लगीं; कुछ तो नीचे के विभाग में और कुछ ऊपर के तख्तों पर चढ़ गईं। कुछ प्रौढ़ा स्त्रियाँ हाथ से क्रास बना कर ईश्वर को याद करके उस मकान के बनानेवाले को दुआ देने लगीं, और कुछ यों ही हँसी-मज़ाक और गाली-गलौज करने लगीं।

मैं दूसरी मंज़िल पर गया। वहाँ पुरुषों ने इसी प्रकार अपना-अपना स्थान ग्रहण किया था। उनमें से एक आदमी को मैंने पहचाना, जिसे मैंने कुछ रुपया दिया था। उसे देखते ही मेरे मन में बड़ी लज्जा उत्पन्न हुई और मैं फौरन ही वहाँ से भाग आया। घर आते हुए मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे मैंने कोई अपराध किया हो। कालीन से ढके हुए ज़ीने से होता हुआ में हॉल में आया, जिसके फ़र्श पर सुन्दर ग़लीचा बिछा हुआ था; और वहाँ अपना कोट उतार कर पाँच प्रकार के पकवानों का भोजन करने बैठा, जिसे सफेद टाई और सफेद दस्ताने तथा वर्दी पहने हुए दो नौकर आ-आकर परोस रहे थे।

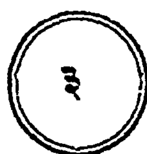
उसी समय विगत काल की एक स्मृति का मन में उदय हुआ। तीस वर्ष पहले पेरिस में हज़ारों आदमियों की उपस्थिति में जल्लादों-द्वारा एक आदमी का सिर कटते हुए देखा था। मैं जानता था कि वह आदमी भयंकर अपराधी है और इस प्रकार के अपराध के लिए मृत्यु-दण्ड देने के पक्ष में जो दलीलें पेश की जाती हैं उनसे भी मैं परिचित था। मैं जान-बूझ कर इस प्राण-दण्ड के दृश्य को देखने गया था, किन्तु जिस समय तेज़ तलवार

से उस आदमी का सिर धड़ से अलग किया गया, मैं जैसे सन्नाटे में आ गया और जैसे नस-नस में मुझे वह अनुभव होने लगा कि मृत्यु-दण्ड के पक्ष की जितनी दलीलें मैंने अभी तक सुनी हैं वे सब झूठी और शैतानियत से भरी हुई हैं और चाहे कितने ही आदमी इसको क़ानूनन जायज़ समझें और भले ही उसे किसी भी नाम से पुकारें, मैं तो यही कहूँगा कि यह और कुछ नहीं, शुद्ध नर-हत्या है और आज इस प्रकार इन्होंने वही नर-हत्या—संसार का सबसे बड़ा और सबसे भयंकर पाप किया है; और मैं, चुपचाप, बिना किसी प्रकार की आपत्ति किये, खड़ा-खड़ा, देखता रहा और इस प्रकार इस वीभत्स कुकृत्य के करने में सहायक तथा इस महान् पाप का भागी हुआ।

और अब, जब कि लोगों के कष्ट—हज़ारों मानव-बन्धुओं की भूख और शीत की पीड़ा और दुर्दशा मैंने अपनी आँखों से देखी तब, उसी प्रकार का विश्वास मेरे मन में फिर पैदा हुआ। न केवल मेरे मस्तिष्क ने ही बल्कि मेरी आत्मा के कण-कण ने इस बात को महसूस किया कि मास्को में इस प्रकार के हज़ारों दुःखित प्राणियों के होते हुए अभी अन्य लाखों मनुष्यों की तरह मैं प्रतिदिन तरह-तरह के सुन्दर और स्वादिष्ट पक्वान्नों से अपना पेट भरता हूँ, अपने घोड़ों तक की बड़ी देख-भाल रखता हूँ और इतना ही क्यों, मैं अपने फर्श को भी मखमली क़ालीनों से ढक कर रखता हूँ। संसार के बुद्धिमान और विद्वान् लोग चाहे कुछ ही क्यों न कहें, और जीवन का यह प्रवाह लोगों को कितना ही अपरिवर्तनीय क्यों न मालूम पड़े, मैं तो यही कहूँगा कि उपर्युक्त प्रकार का एक महान् अपराध संसार में बराबर किया जा रहा

है और मैं भी अपनी आराम-तलबी और ऐश-पसन्दी की आदतों-द्वारा उस अपराध में भाग ले रहा हूँ।

इन दोनों अपराधों में अन्तर है तो सिर्फ इतना ही कि प्राण-दण्डवाले मामले में मुझ से जो कुछ बन सकता था वह इतना ही था कि हत्या-यंत्र के पास खड़े होकर मैं चीख कर, चिल्ला कर, जल्लादों से कहता कि तुम हत्या कर रहे हो और यह जानते हुए भी कि मेरी सारी चेष्टायें विफल होंगी उसके कृत्य को रोकने का मुझे हर तरह से यत्न करना चाहिए था। किन्तु इस दूसरे मामले में उन्हें पीने के लिए स्बिटन तथा उस समय मेरे पास जो रुपये थे उन्हें ही देकर मुझे सन्तोष करना पड़े—ऐसी बात न थी। बल्कि, मैं चाहता तो अपने शरीर पर का कोट और मेरे घर में जो कुछ था वह सब उन्हें दे डाल सकता था। लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया। इसीलिए उस समय मैंने महसूस किया, अब भी महसूस करता हूँ, और सदा ही महसूस करता रहूँगा, कि संसार में निरन्तर होते रहनेवाले एक महान् पाप में मैं भी भाग ले रहा हूँ; और सचमुच ही मैं इस पाप का भागीदार बना रहूँगा, जबतक कि दूसरों के भूखे रहते हुए मेरे पास आवश्यकता से अधिक भोजन है और जबतक कि एक भी कोट-विहीन मनुष्य के रहते हुए मैं अपने पास दो कोट रखता हूँ।



जिस दिन मैं ल्यापिन के अनाथावास को देखकर आया उसी रोज शाम को एक मित्र से मैंने अपने विचार प्रकट किये। मेरे वह मित्र उसी शहर के रहने-वाले थे। उन्होंने मेरी बातें सुनकर एक प्रकार के शांत और सन्तोषपूर्ण भाव से कहा कि इसमें तो अनोखी कोई बात ही नहीं, यह तो नागरिक जीवन की एक अत्यन्त साधारण और स्वाभाविक बात है। क़स्बों में रहने के कारण ही सम्भवतः मुझे इसमें विचित्रता दीखती है, अन्यथा यह स्थिति तो सदा से रही है और सदा बनी रहेगी। क्योंकि सभ्यता का यह एक अनिवार्य अंग है। उन्होंने अन्य बातों के साथ यह भी बताया कि लंडन में तो इससे भी खराब स्थिति है, इसलिए उन्होंने मुझे विश्वास दिलाना चाहा कि इसमें दुःखी या परेशान होने की कोई बात नहीं है।

मैं अपने मित्र से बहस करने लगा, लेकिन इतनी गर्मी और तेजी के साथ कि पास के कमरे से दौड़कर मेरी स्त्री पूछने आई कि मामला क्या है? मालूम पड़ता है, अनजान में ही, तीव्र दुःखित स्वर में, हाथ झटकते हुए, मैं चिल्लाकर बोल उठा था—"हम इस तरह अपने जीवन को कैसे व्यतीत कर सकते हैं? न तो हमें ऐसा करना ही चाहिए और न हमें ऐसा करने का अधिकार है।" अनावश्यक उत्तेजना के लिए मेरी भर्त्सना की गई और

मुझे बताया गया कि मैं बड़ी जल्दी गरम हो उठता हूँ—शान्ति-पूर्वक किसी विषय पर मैं बात ही नहीं कर सकता। मुझे यह भी सुझाया गया कि मैंने जिस प्रकार के दारिद्र्य और दुःख देखे हैं उनका अस्तित्व हमारे पारिवारिक जीवन को विषाक्त बनाने का कारण नहीं हो सकता।

मैंने देखा कि बात तो ठीक है, इसीलिए मैं चुप रह गया। किन्तु आत्मा के किसी निगूढ़ स्थल में मुझे ऐसा भास होता था कि मेरा विचार ठीक है और अपने आत्मा की इस अस्पष्ट स्वर-लहरी को मैं किसी प्रकार शान्त न कर सका।

नागरिक जीवन जो पहले मुझे असंगत और विचित्र-सा मालूम होता, अब मुझे ऐसा घृणित प्रतीत होने लगा कि विलासी जीवन के जो आमोद-प्रमोद पहले मुझे आनन्द देते थे अब मेरी यातना के कारण बन गये।

मैं जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा था उसे निर्दोष सिद्ध करने के लिए मैं मन ही मन कितनी ही चेष्टा क्यों न करूँ, पर जब कभी मुझे अपने या दूसरों के सजे सजाये बैठक-खानों, तरह-तरह के अमीराना पक्वान्नों से भरे हुए दस्तरख्वानों, या शानदार घोड़ों और सुसज्जित कोचवानवाली गाड़ियों का ध्यान आता था—जब कभी मैं दूकानों, नाटकों और भोजों का खयाल करता, तो मुझे क्रोध आये बिना न रहता। जब कभी मुझे इनका ध्यान आता उसी समय उस अनाथावास के दरिद्र, शीत से काँपते हुए दीन-हीन, अभागे मनुष्यों की मूर्तियाँ मेरे सामने आ खड़ी होतीं। मैं इस विचार को तो अपने मन से कभी दूर ही न कर सका कि इन दोनों विषम परिस्थितियों का परस्पर

अत्यन्त घनिष्ठ, कार्य-कारण का सा सम्बन्ध है। मुझे याद है कि अपने को अपराधी समझने की भावना जो मेरे मन में उदय हुई थी, वह कभी दूर नहीं हुई; किन्तु इसके साथ ही एक दूसरी भावना आ मिली, जिससे पहली भावना कुछ मन्द हो गई।

त्यापिन-गृह की जो छाप मेरे हृदय पर पड़ी थी उसका जब कभी मैं अपने मुलाक़ातियों और मित्रों से ज़िक्र करता, तो वे सदा वही एक ही तरह का उत्तर देते। वे प्रायः मेरी दयालुता और स्निग्धता की प्रशंसा करते हुए कहते कि मुझे जो इसका ख़याल हो रहा है, इसका कारण यह है कि मैं, लियो टालस्टाय, बज़ाते ख़ुद नेक और रहमदिल हूँ; और मैं भी उनकी इस बात का विश्वास करने लगा।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आत्म-भर्त्सना और लज्जा की जो तीव्र भावना मेरे हृदय में पैदा हुई थी वह अब कुन्द पड़ गई और उसके बजाय मुझे एक प्रकार से अपने गुणों पर सन्तोष-सा होने लगा और इस बात की इच्छा होती थी कि लोग मेरे इन गुणों को जानें। मैंने दिल में कहा—'सच्ची बात तो शायद यह है कि यह मेरे विलासमय जीवन का दोष नहीं है, बल्कि संसार की परिस्थिति ही कुछ ऐसी है; और वह अनिवार्य है। इसलिए मेरे अपने जीवन में परिवर्तन करने से वह बुराई, जिसे मैंने देखा है, दूर न हो सकेगी।'

मैंने यह भी सोचा कि अपने जीवन की शैली में परिवर्तन कर देने से कोई लाभ न होगा। बुराई तो जैसी है, वैसी ही बनी रहेगी, उलटे मेरे आत्मीयों का जीवन दुःखमय हो जायगा। इसलिए जैसा कि मैंने समझा था, जीवन-शैली को बदलना अब

मेरा उद्देश्य न होना चाहिए, बल्कि इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि जहाँ तक मुझसे बन सके इन अभागे लोगों की स्थिति को सुधारा जाय। मैंने सोचा कि सारी बातों का निष्कर्ष यह है कि मैं एक अत्यन्त दयालु और नेक आदमी हूँ और अपने भाइयों का उपकार करना चाहता हूँ।

बस, मैं परोपकारी कार्यों की एक योजना तैयार करने लगा कि जिसके द्वारा मुझे अपने समस्त गुणों को प्रदर्शित करने का अवसर मिले। यहाँ पर इतना तो मुझे कह ही देना चाहिए कि जिस समय मैं इस तरह के परोपकारों की योजना रच रहा था, उस समय भी हृदय के निगूढ़न्तम भाग में मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह ठीक नहीं है; किन्तु, जैसा कि प्रायः होता है, मेरी बुद्धि और कल्पना ने आत्म-विवेक की आवाज़ का गला घोंट दिया।

इसी समय मर्दुमशुमारी का काम हो रहा था। मैंने सोचा, उस परोपकार-कार्य को प्रारम्भ करके अपनी इच्छा को चरितार्थ करने का यह अच्छा अवसर है। मैं बहुत-सी परोपकारी संस्थाओं तथा सभाओं से परिचित था, जो मास्को में पहले ही से स्थापित थीं; किन्तु उन सब की कार्यवाही मुझे अपने सोचे हुए कामों के आगे बिलकुल तुच्छ मालूम देती थी, और मैं समझता था कि उनका संचालन भी ग़लत रास्ते पर हो रहा है।

ग़रीबों के प्रति अमीरों की सहानुभूति को आकर्षित करने के लिए मैंने यह तरकीब निकाली। मैंने रुपया एकत्र करना प्रारम्भ किया और ऐसे आदमियों की सूची तैयार करने लगा कि जो मर्दुमशुमारी के अफ़सरों के साथ घूम-घूमकर ग़रीबों

के अड्डे देखें, उनके साथ मिल-जुलकर उनकी आवश्यकताओं को मालूम करें, जिन्हें धन की जरूरत हो उन्हें धन दें, जो लोग काम चाहते हों उन्हें काम दिलायें और जो मास्को में काम चाहते हों उनके भेजने का प्रबन्ध करें, उनके लड़कों को विद्यालयों में भरती करें और वृद्धों तथा स्त्रियों को अनाथालय आदि में रखें।

मैंने यह भी सोचा कि जो लोग इस काम को करेंगे उन्हीं की एक स्थायी समिति बना ली जायगी, जो मास्को के विभिन्न भागों में अपने-अपने लिए काम बाँट लेंगे और इस बात का यत्न करेंगे कि अब आगे कोई परिवार अथवा व्यक्ति दरिद्रता के चंगुल में न फँसने पाये और इस तरह पहले ही से खबरगीरी रखते हुए थोड़ा-थोड़ा करके दरिद्रता का मूल से ही नाश कर डाला जायगा।

मैं तो अभी से स्वप्न देखने लगा कि भविष्य में भिक्षा-वृत्ति तथा दरिद्रता का नामोनिशान भी नहीं रहा है और इस सुन्दर स्थिति को अस्तित्व में लाने का कारण भी मैं ही हूँ। मैं सोचने लगा कि तब हम लोग जो कि अमीर हैं, मजे में पहले ही की तरह आनन्दमय जीवन व्यतीत करेंगे, शानदार मकानों में रहेंगे, पाँच प्रकार के भोजन करेंगे, गाड़ियों में बैठकर भोजों तथा नाटकों में सम्मिलित होने जायँगे और फिर कभी ऐसे दृश्यों से हमारे मजे में खलल न पड़ेगा कि जैसा ल्यापिन-गृह में मैंने देखा था।

यह तरकीब सोचकर मैंने उसपर एक लेख लिखा और उसे छपने के लिए भेजने से पहले ही मैं उन मित्रों से मिलने गया कि जिनसे मुझे सहयोग की आशा थी; और उस दिन

जितने लोगों से मैं मिला, सभी से, खासकर धनिक लोगों से, मैंने उन बातों का ज़िक्र किया कि जिनको पीछे से मैंने लेख में प्रकाशित कराया था।

मैंने यह प्रस्ताव लोगों के सामने रक्खा कि अभी जो मनुष्य-गणना होनेवाली है, उससे लाभ उठाकर हम मास्को की दरिद्रता का अध्ययन करें और उसे जड़-मूल से उखाड़ फेंकने में तन, मन, धन से सहायता दें; फिर इसके बाद निर्द्वन्द्व चित्त हो, हम अपने आमोद-प्रमोद में मग्न हो सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य ने बड़ी गम्भीरता के साथ ध्यानपूर्वक मेरी बातों को सुना, लेकिन हर जगह मैंने देखा कि मेरे श्रोता जिस समय यह समझ पाते कि मैं क्या कहना चाहता हूँ तो उन्हें एक तरह की परेशानी-सी होने लगती और उनकी यह परेशानी, मुझे विश्वास है, प्रायः मेरे ही लिए होती थी। क्योंकि, मैं जो कुछ कहता था उसे वे केवल मूर्खता ही समझते थे। ऐसा मालूम होता था कि मेरी बात को तो वे पसन्द न करते थे, लेकिन किसी बाह्य कारण-वश क्षण भर के लिए मेरी उन मूर्खतापूर्ण बातों से सहमत होने के लिए मजबूर से हो जाते।

लोग कहते—"हाँ, हाँ; बेशक, यह तो बड़ा ही अच्छा है। यह असम्भव है कि किसी मनुष्य को आपकी योजना से सहानुभूति न हो। आपका विचार बड़ा सुन्दर है, मेरे मन में भी यह ख़याल उठा था...लेकिन क्या कहें, यहाँ के लोग बड़े उदासीन हैं। इसीलिए बड़ी सफलता की आशा करना भी व्यर्थ है। लेकिन हाँ, मुझसे जो कुछ बन सकेगी, इस काम में सहायता देने के लिए तैयार हूँ।"

प्रायः सभी से मुझे इसी प्रकार का उत्तर मिला। वे अपनी इच्छा से या मेरी दलीलों से क़ायल होकर मेरी बात मानते हों, यह बात नहीं; बल्कि ऐसा मालूम होता था कि किसी दूसरी ही वजह से, शायद मेरे व्यक्तित्व के कारण, मेरी बात को अस्वीकार करना उनके लिए बड़ा ही कठिन हो रहा था।

यह मैं इसलिए कहता हूँ कि जिन लोगों ने आर्थिक सहायता देने का वचन दिया था उन्होंने यह न बताया कि वे कितना धन देंगे और इसलिए खुद मुझे ही कहना पड़ता था—'तो क्या मैं आशा करूँ कि आपसे इतने रुपयों की सहायता मिलेगी ?' और उनमें से एक ने भी रुपया प्रदान नहीं किया। बात यह है कि जिस चीज़ को हम पसन्द करते हैं उसके लिए हम फ़ौरन ही रुपया देने को तैयार हो जाते हैं। लेकिन यहाँ जिन लोगों ने सहानुभूति प्रकट की अथवा धन देने को कहा, उनमें से एक ने भी रुपया निकाल कर दिया नहीं। बस, जो रक़म मैंने मुँह से कह दी, उसे ही चुपचाप मंजूर कर लिया।

उस दिन, सबसे अन्त में, जिस घर में मैं गया था वहाँ एक बड़ी-सी मित्र-मण्डली एकत्र थी। घर की मालकिन बहुत वर्षों से परोपकार के कामों में योग दिया करती थी। कई गाड़ियाँ द्वार पर खड़ी थीं और हॉल के अन्दर क़ीमती वर्दियाँ पहने चपरासी बैठे हुए थे। विशाल बैठकख़ाने में जवान और बूढ़ी महिलायें अमीराना पोशाक और जवाहरात पहने हुए नवयुवकों से बातें कर रही थीं और साथ ही ग़रीबों की सहायता के निमित्त लाटरी के लिए गुड़ियाँ सजाती जाती थीं।

एकत्र हुई मण्डली तथा बैठकखाने के इस दृश्य से मेरे

हृदय को बड़ी चोट पहुँची। एक तो खुद इन लोगों की सम्पत्ति ही करोड़ों की थी, दूसरे इनके वस्त्राभूषणों, गाड़ी-घोड़ों, नौकरों-चाकरों आदि पर जो रक़म ख़र्च हुई है उसका सूद भी इन महिलाओं के कार्य के मूल्य की अपेक्षा सैंकड़ों गुना अधिक होगा, और यदि हम यह न गिनें तब भी कह सकते हैं कि इन लोगों के एकत्र होने में तथा आज के आतिथ्य में जो कुछ व्यय किया होगा, वह भी इन महिलाओं की कृति-द्वारा उपार्जित धन की अपेक्षा कहीं अधिक होगा।

इन सब बातों को देखकर ही मुझे समझ जाना चाहिए था कि कम से कम यहाँ मुझे अपनी योजना के लिए सहानुभूति प्राप्त करने की आशा न करनी चाहिए, किन्तु मैं तो एक प्रस्ताव रखने आया था, और यह काम चाहे कितना ही अप्रीतिकर प्रतीत हो, मुझे तो करना ही था। इसलिए अपने लेख के शब्दों को ही लगभग दोहराते हुए मैंने यह प्रस्ताव उनके समक्ष रक्खा।

एक महिला ने कुछ आर्थिक सहायता देने का वचन दिया। मिज़ाज कमज़ोर होने के कारण ग़रीबों को देखने के लिए जाने में तो वह असमर्थ थीं, पर धन से सहायता करना चाहती थीं। लेकिन वह कितना रुपया देंगी और कब देंगी, इसका कुछ भी ज़िक्र न किया। एक दूसरी महिला तथा एक नवयुवक ने कहा कि वे ग़रीबों को देखने जायँगे; किन्तु उनकी इस कृपा का लाभ मुझे मिला नहीं। वह मुख्य सज्जन कि जिन्हें सम्बोधित करके मैंने सब बातें कहीं, बोले कि साधनों का अभाव होने के कारण कुछ अधिक कर सकने की सम्भावना नहीं है। बात यह है कि मास्को के तमाम धनिक, जिनसे इस कार्य में सहायता की

आशा की जा सकती थी, अपनी-अपनी इच्छानुसार दान कर चुके हैं और उसके उपहार-स्वरूप उन्हें ख़िताब, तमग़े तथा अन्य मान-सूचक बातें भी प्राप्त हो चुकी हैं। धनिक लोगों से रुपया निकालने का यही एक ज़बरदस्त साधन है, किन्तु अधिकारीगण अब फिर से मान-वर्षा करें, यह कठिन है।

उस दिन लौटकर जब मैं बिस्तर पर लेटा तब मुझे केवल इतना ही ख़याल न था कि मेरे इस विचार से कुछ होनेवाला नहीं है, बल्कि मेरे मन में कुछ ऐसी लज्जाजनक भावना थी कि जैसे मैं सारे दिन कोई हेय और घृणित कार्य करता रहा होऊँ। किन्तु फिर भी मैं अपने काम से बाज़ न आया।

पहली बात तो यह थी कि काम शुरू कर दिया था और अब झूठी लज्जा-वश उसे छोड़ते न बनता था। दूसरे, यदि मैं सफल हो जाऊँ तब तो कोई बात ही न थी और नहीं तो फिर भी मैं जब तक इस काम में भाग लेता रहता तबतक अपने जीवन को उसी तरह आनन्दपूर्वक बिता सकता था, जैसा कि अबतक करता आया था। किन्तु इस योजना के असफल हो जाने पर तो मुझे अपनी जीवन-शैली को छोड़कर दूसरी शैली खोजने के लिए मजबूर होना पड़ता और इस बात से अनजान में ही मैं कुछ डरता-सा था। इसलिए मैंने अपने अन्तर की आवाज़ की अवहेलना करके जो काम शुरू किया था, उसे जारी रक्खा।

मैंने अपना लेख छपने के लिए भेज दिया और मनुष्य-गणना से सम्बन्ध रखनेवाली टाउनहाल की एक सभा में झिझकते और लजाते हुए उसकी एक प्रूफ़-कापी पढ़कर सुनाई। उस समय मारे लाज के मेरा चेहरा लाल हो रहा था, मैं खुद परेशान था, और

मैंने देखा कि मेरे श्रोतागण भी उतने ही परेशान थे।

मैंने जब पूछा कि क्या मनुष्य-गणना के प्रबन्धक मेरे इस प्रस्ताव को पसन्द करेंगे कि वे अपने पदों को इसलिए स्वीकार करें कि वे सभ्य-समाज तथा दीन-वर्ग को आपस में मिलाये रखने के लिए कड़ी का-सा काम कर सकें, तो मैंने देखा कि मेरे प्रश्न के उत्तर में केवल एक भद्दी-सी खामोशी छा गई।

तब दो उपस्थित महानुभावों ने वक्तृता दी, जिससे मेरे प्रस्तावों का भद्दापन कुछ सुधरता-सा दिखाई दिया। वक्ताओं ने साधारणतः मेरी योजना को पसन्द करते हुए उससे सहानुभूति प्रकट की, किन्तु साथ ही उसकी अव्यवहारिकता की ओर भी निर्देश किया। इससे तत्काल ही लोगों को कुछ सन्तोष होता हुआ दिखाई दिया; लेकिन यह समझकर कि शायद मैं अब भी सफल हो जाऊँ मैं पूछ बैठा कि क्या जिला-प्रबन्धक अलग-अलग इस काम को करने के लिए राजी हो जायँगे और मनुष्य-गणना के समय दीनों की आवश्यताओं को समझकर बाद को भी उनकी सेवा करने के लिए अपने-अपने पदों पर बने रहेंगे ? इस प्रश्न ने तो फिर सबको गड़बड़ी में डाल दिया। उनकी नजरें मानों कह रही थीं—'तुम्हारी इन मूर्खतापूर्ण बातों को सिर्फ तुम्हारी खातिर अब तक हमने सुन लिया। लेकिन तुम फिर भी नहीं मानते।'

उनके मुख पर तो यही भाव था, लेकिन जबान से उन्होंने स्वीकृति प्रकट की; और इसके बाद दो जनों ने कहा—'यह तो हमारा नैतिक कर्तव्य है।' ये शब्द उन्होंने कहे तो अलग-अलग, लेकिन इस ढंग से कहे गये कि जैसे दोनों ने पहले ही से

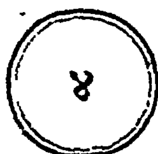
सलाह कर रक्खी हो। मनुष्य-गणना के लिए लेखकों का काम करने के लिए जिन विद्यार्थियों ने अपनी सेवायें अर्पित की थीं उनपर भी मेरी बातों का वैसा ही असर पड़ा। मैंने उन्हें समझाना चाहा कि इस प्रकार परिस्थिति का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने के साथ ही वे परोपकार भी कर सकेंगे।

मैंने देखा कि जब मैं उनसे बातें कर रहा था तब वे एक प्रकार की घबराहट के साथ निर्निमेष दृष्टि से मेरी ओर देख रहे थे, जैसा कि किसी भले आदमी को अर्थहीन बातें करते देखकर अवाक् होकर हम उसकी ओर देखते रह जाते हैं।

पत्र-सम्पादक को जब मैंने अपना लेख दिया, तब उसपर भी वैसा ही असर पड़ा और मेरे पुत्र पर, मेरी स्त्री पर तथा अन्य अनेक जनों पर भी मेरी बात का एकदम वही प्रभाव हुआ।

हरएक आदमी सुनकर कुछ परेशान-सा हो जाता था, किन्तु मेरे इस विचार को अच्छा बताना प्रत्येक मनुष्य आवश्यक समझता था और अपनी पसंदगी ज़ाहिर करने के बाद फौरन ही योजना की सफलता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करने लग जाता था, और न जाने क्यों, सभी लोग, बिना किसी अपवाद के, समाज की उदासीनता तथा लोगों की उत्साह-हीनता को बुरा-भला कहने लगते, पर उनके ढंग से मालूम होता था कि जितनी चर्चा हो रही है उनमें वे खुद शामिल नहीं हैं।

मेरी अन्तरात्मा अब भी कहती थी कि मैं ठीक काम नहीं कर रहा हूँ, इससे कुछ लाभ न होगा। फिर भी मैंने अपना लेख छपाया और मनुष्य गणना के काम में भाग लेने लगा। आरम्भ में तो मैंने प्रकृति को खींचकर खड़ा किया था, किन्तु अब वह बरबस मुझे खींचे लिये जाती थी।



मेरी प्रार्थनानुसार खमोवनिचेस्की नाम का विभाग मनुष्य-गणना के लिए मुझे सौंप दिया गया। यह विभाग स्मोलेन्स्की मार्केट के नज़दीक, प्रोटोचनी लेन में, शोर ड्राइव और निकोल्स्की लेन के मध्य में स्थित है। इस विभाग में वे मकानात हैं, जो जनोफभवन अथवा जनोफगढ़ कहलाते हैं। पुराने जमाने में जनोफ नामी व्यापारी के वे मकानात थे, पर अब जीनिन नामी व्यापारी के कब्ज़े में हैं। मैंने सुन रक्खा था कि यह विभाग दरिद्रता और व्यभिचार का केन्द्र है, और इसीलिए मनुष्य-गणना के प्रबंधकों से मैंने इस केन्द्र को माँगा था। मेरी इच्छा पूर्ण हुई।

नगर-सभा की ओर से नियत हो जाने पर, गणना का कार्य आरम्भ होने से कुछ दिन पहले, एक दिन मैं अकेला ही अपने केन्द्र का निरीक्षण करने गया। एक नक़शे की मदद से मैंने शीघ्र ही जनोफ-भवन का पता लगा लिया। पहले एक गली में से होकर जाना पड़ता था और जहाँपर वह गली खतम होती थी वहाँ पर निकोल्स्की लेन की बाईं तरफ़ एक शोभा-हीन तमोमय इमारत बनी हुई थी, जिसमें कोई द्वार भी दिखाई न देता था। उसकी शक्ल देखकर ही मैं समझ गया कि यही मकान है कि जिसकी मैं तलाश कर रहा हूँ। गली में घुसते ही दस से चौदह वर्ष की उम्र के छोटे-छोटे कोट पहने हुए कुछ लड़के मिले जो

बरफ़ पर से सरकने का खेल खेल रहे थे; उनमें से कुछ तो पैरों ही पर खिसकते थे, और कुछ लकड़ी की घोड़ी (skate) पर।

लड़के फटेहाल किन्तु शहरी बालकों की तरह तेज और दबंग थे। मैं खड़े होकर उनकी ओर देखने लगा। इतने ही में उधर से एक बूढ़ी स्त्री निकली, जो फटे हुए कपड़े पहने थी और जिसके गाल सूखकर लटक गये थे। वह पहाड़ी पर चढ़कर स्मोलेन्स्की मार्केट को जा रही थी और थके हुए घोड़े की नाईं बुरी तरह हाँफ रही थी। और कोई जगह होती तो यह बुढ़िया भीख माँगती, किन्तु यहाँ तो वह सिर्फ बातें करने लगी।

खेलते हुए बालकों की ओर इशारा करके वह बोली—जरा इनकी ओर तो देखो! बस, हर वक्त धूम मचाते रहते हैं। जैसे इनके बाप थे, बस, वैसे ही निखट्टू जनोफ यह भी निकलेंगे।

ओवरकोट और टूटी टोपी जो लड़का पहने हुए था, उसने बुढ़िया की बात सुन ली और खड़े होकर कहा—'चुप रह री! तू खुद जनोफवाली भूतनी है।'

मैंने लड़के से पूछा, 'क्या तुम यहीं रहते हो?' 'हाँ, और यह भी यहीं रहती हैं। इसी ने तो बूट चुराये थे'—यह कहकर वह बर्फ पर से नीचे खिसक गया।

अब तो उस बूढ़ी औरत ने गालियों की झड़ी सी लगादी। बीच-बीच में खाँसी की वजह से उसे रुक जाना पड़ता था। यह झगड़ा हो ही रहा था कि उसी गली में फटे कपड़े पहने हाथ हिलाता हुआ एक बुड्ढा आदमी आ निकला। उसके एक हाथ में कुछ बिस्कुट थे, और मालूम होता था अभी-अभी उसने शराब

का एक गिलास चढ़ाया है। उसने बूढ़ी औरत की गालियाँ सुन ली थी और उसका ही पक्ष लेकर चिल्लाते हुए कहने लगा—'अरे शैतान के बच्चो, जरा खड़े तो रहो।'

यह कहकर धमकाने के लिए उनके पीछे दौड़ा और मेरे पीछे से निकल कर फुटपाथ पर चढ़ गया। यदि आप आर्टट नामी शहर की फ़ैशनेबल गली में इसे देखते तो इसकी अपंगता, दुर्बलता और दरिद्रतासूचक चेष्टा से दङ्ग रह जाते। यहाँ तो वह ऐसा मालूम होता था, जैसे कोई खुशहाल हँसमुख मजदूर काम करके शाम को घर वापस जा रहा है।

मैं इस आदमी के पीछे हो लिया। वह नुक्कड़ पर से मुड़कर बाईं ओर प्रोटोचनी गली में घुसा और घर के सामने से होता हुआ एक सराय के अन्दर घुसकर अदृश्य हो गया। इस गली में उस सराय के अलावा, एक पब्लिक हाउस और कई छोटे-छोटे भोजनालय थे। यही जनोफ़-भवन था। यहाँ की इमारतें, रहने के कमरे, सहन और आदमी—सभी गन्दे, भद्दे और बदबूदार थे। जिनसे मैं मिला, उनमें से अधिकांश अर्ध-नग्न और फटे हुए कपड़े पहने थे। कुछ लोग जा रहे थे और कुछ इस दरवाजे से उस दरवाजे की ओर दौड़ रहे थे। दो जने कुछ चिथड़ों का सौदा कर रहे थे। मैंने घूमकर सारी इमारत को देखा और एक गली और एक आँगन में से होता हुआ जनोफ़-भवन के महराबदार रास्ते पर आकर खड़ा हुआ।

मेरी इच्छा तो हुई कि मैं अन्दर जाकर देखूँ कि वहाँ क्या हो रहा है, किन्तु इससे मुझे बड़ी झिझक मालूम हुई। मैंने सोचा कि यदि कोई पूछ बैठे कि तुम यहाँ क्यों आये हो, तो मैं क्या

उत्तर दूँगा? फिर भी थोड़ी देर तक सङ्कोच करने के वाद मैं अन्दर
घुसा तो सही। जिस समय मैंने अन्दर प्रवेश किया, मुझे वड़ी
ही जघन्य दुर्गन्ध मालूम पड़ी। आँगन की गन्दगी तो महा-
भयानक थी। कोने के पास से जब मैं मुड़ा तो मैंने छज्जे के पास
और ज़ीने के नीचे दौड़ते हुए लोगों के पाँवों की आहट सुनी।

पहले एक पतली-दुवली स्त्री, जिसकी आस्तीनें चढ़ी हुई
थीं, दौड़ती हुई वाहर आई। उस स्त्री की पोशाक किरमजी थी,
पर उसका रंग उड़ गया था। पैरों में वह जूते पहने थी, पर
मोज़े नहीं थे। स्त्री के पीछे मोटे वालोंवाला एक आदमी दौड़ता
हुआ आया। वह लाल क़मीज़ पहने हुए और लहँगे की तरह
वहुत ही चौड़ा पायजामा तथा पैरों में रवड़ के जूते पहने हुए
था। उस आदमी ने ज़ीने के नीचे औरत को जा पकड़ा और
हँस कर कहा—'तुम मुझसे भागकर नहीं जा सकतीं।'

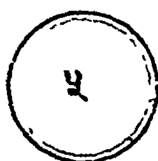
'ज़रा इन हज़रत की वातें तो सुनो!'—इस तरह उस
औरत ने वात छेड़ी। वह मनुष्य उसके पीछे भागा-भागा फिरता
है, इससे वह अप्रसन्न भी मालूम न देती थी। किन्तु इतने ही
में मुझे देखकर उसने क्रुद्ध स्वर में कहा—'किसे देखते हो?'
चूँकि मैं किसी व्यक्ति-विशेष के लिए वहाँ नहीं गया था, इस-
लिए उसका प्रश्न सुनकर मैं कुछ गड़वड़ा-सा गया और वहाँ से
चला आया।

इस छोटी-सी घटना ने, जो स्वतः कुछ विशेष महत्वपूर्ण न
थी, मैं जो काम करने चला था उसे एक विलकुल नये ही रूप
में मेरे सामने लाकर रक्खा। उस गाली देनेवाली वृद्धी औरत,
हँसमुख वृद्ध, और वरफ पर खिसकने वाले लड़कों के उस दृश्य

ने, खास कर मुझपर एक नया ही असर डाला। मैंने सोचा था कि मास्को के धनिक-वर्ग की सहायता से मैं उनका उपकार करूँगा। आज पहली बार मैंने यह समझा कि इन दीन-हीन अभागों के लिए सिर्फ़ यही प्रश्न नहीं है कि वे किसी प्रकार दुःख-सुख के साथ भूख और सर्दी की मुसीबतों को झेल लें, बल्कि उनके सामने एक समस्त जीवन है। उनके लिए भी प्रत्येक दिन में चौबीस घण्टे होते हैं, जिन्हें किसी न किसी तरह उन्हें बिताना ही पड़ेगा। मैं अब समझा कि खाने-पीने और सर्दी आदि के प्रबन्ध के अतिरिक्त भी उन्हें अपने जीवन का अधिकांश समय हमी लोगों की तरह बिताना है कि जिस समय में हमारी ही तरह उन्हें कभी क्रोध आ सकता है और थकावट और सुस्ती भी हो सकती है, जिसे वे दूर करने के लिए हँसना-बोलना चाहेंगे और किसी भी समय या तो वे उदास होंगे या प्रसन्न रहेंगे।

यह बात कितनी ही विचित्र क्यों न मालूम पड़े, किन्तु मुझे कहना ही पड़ेगा कि आज पहली बार मैं अच्छी तरह यह समझ सका कि मैं जिस काम को लेकर चला हूँ वह सिर्फ़ इतने ही पर समाप्त नहीं हो सकता कि भेड़ों की तरह खिला-पिलाकर उन्हें बाड़े में बन्द कर दिया जाय। इनके खाने और पहनने का प्रबन्ध [illegible] से ही कुछ न होगा, हमें अन्दर उतर कर इनके साथ मिल-जुलकर इनके दिल को समझाना होगा। जब मैंने देखा कि ये लोग केवल भिखारी ही नहीं हैं, बल्कि इनमें से प्रत्येक व्यक्ति मेरी ही तरह एक मनुष्य है कि जिसके सुख-दुख का एक इतिहास है, जिसमें अतीत आकांक्षाओं, प्रलोभनों, भूलों और

जीवन की प्रहेलिकाओं का समावेश है—तब, उस समय, एकाएक मुझे मालूम पड़ा कि मेरा काम बड़ा भारी है और उसके सामने मैं बहुत ही तुच्छ और नितान्त असहाय हूँ। किन्तु काम शुरू हो गया था और अब तो उसको चलाना ही था।



मनुष्य-गणना में मुझे सहायता पहुँचाने के लिए जो विद्यार्थी नियत हुए थे वे तो निश्चित तिथि को सबेरे ही अपने घरों से रवाना हो गये, किन्तु मैं जो अपने को परोपकारी आदमी समझता हूँ दोपहर से पहले काम में शरीक न हो सका—और मैं इससे पहिले शरीक भी कैसे होता ? दस बजे तो मैं बिस्तर से उठा। उसके बाद काफ़ी पी और फिर हाज़मा ठीक करने के लिए तम्बाकू पी और तब कहीं बारह बजे जाकर मैं जिलोक-गृह में पहुँचा।

गणना-लेखकों ने अपने मिलने का स्थान एक होटल बताया था। वहाँ पुलिस के आदमी ने पहुँचा दिया। मैं अन्दर घुसा तो देखा कि स्थान बहुत गन्दा और वाहियात है। ठीक मेरे सामने पैसा वसूल करनेवाले का स्थान था। बाईं ओर एक छोटा कमरा था, जिसमें मैले कपड़े से ढकी हुई मेज़ें थीं। दाहिनी ओर खम्भोंवाला एक बड़ा कमरा था, जिसमें खिड़कियों के पास दीवाल से लगी हुई वैसी ही मेज़ें रक्खी हुई थीं। कुछ लोग [illegible] बैठे चाय पी रहे थे, जिनमें से कुछ तो फटे-फटाये कपड़े पहने हुए थे और कुछ की पोशाक अच्छी थी। मालूम होता था कि या तो वे मज़दूर थे या छोटे दूकानदार। कुछ स्त्रियाँ भी वहाँ थीं। होटल गन्दा था, लेकिन फिर भी होटलवाले की व्यवहार-कुशल मुद्रा और नौकरों की मुस्तैदी और

खुश-मिज़ाजी से मालूम होता था कि होटल का काम खूब चल रहा है। मैं ज्योंही अन्दर घुसा, एक आदमी मेरे पास आ पहुँचा और वह ओवरकोट उतारने में मदद देने के लिए तैयार हुआ। वह उत्सुकता-पूर्वक मेरी फर्माइश सुनने के लिए खड़ा था, जिससे वह यह बात प्रकट कर रहा था कि इस होटल के लोग जल्दी और मुस्तैदी के साथ काम करने के आदी हैं।

जब मैंने पूछा कि गणना-लेखक कहाँ हैं, तो इसके उत्तर में एक आदमी ने, जो विदेशी भेष में था और हिसाब की मेज़ के पीछेवाली आलमारी में कुछ चीज़ें सजाकर रख रहा था, आवाज़ लगाकर पुकारा। यह पुकारनेवाला ही होटल का मालिक था। यह कालूगा का रहनेवाला आइवन फिडोटिच नाम का एक किसान था, जिसने आधे मकानात किराये पर लेकर दूसरों को अपनी ओर से किराये पर उठा दिये थे। उसकी आवाज़ सुनते ही एक १८ वर्ष का दुबला-पतला लड़का तेज़ी से सामने आया। उसका चेहरा लम्बा था और नाक कुछ झुकी हुई थी। होटल के मालिक ने कहा—इन महाशय को मुहर्रिरों के पास ले जाओ, वे लोग कुँए के पासवाले बड़े मकान में हैं।

लड़के ने तौलिया रख दिया, सफ़ेद कमीज़ और पायजामे के ऊपर एक कोट डाट लिया, एक बड़ा-सा टोप उठाया और फिर पीछे के दरवाजे से निकल कर, इमारत को पार [illegible] छोटे-छोटे तेज़ कदमों से मेरे आगे-आगे चला। एक गन्दे दुर्गन्धयुक्त रसोईघर के दरवाजे पर हमें एक बूढ़ी औरत मिली, जो एक चिथड़े में होशियारी के साथ लपेटे हुए कुछ गला-सड़ा माँस लिये जा रही थी। हम लोग एक सहन में पहुँचे, जिसके

चारों ओर पत्थर की नींव पर लकड़ी के मकानात बने हुए थे। बड़ी ही बुरी दुर्गन्ध आ रही थी और ऐसा मालूम होता था कि वह पाखाने में से निकल रही थी, जहाँ बराबर बहुत-से आदमी निवृत्त होने जाते रहते हैं। लोग इस काम के लिए उसे इस्तेमाल करने लगे थे, इसीलिए वह स्थान पाखाना कहलाता था। सहन में से गुजरते समय किसी का भी ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता था, क्योंकि अन्दर घुसते ही उसमें से दुस्सह दुर्गन्ध आती थी।

इस बात का खयाल रखते हुए कि कहीं उसका सफ़ेद पायजामा मैला न हो जाय, जमे हुए कूड़े से बचते-बचाते वह लड़का होशियारी से मुझे उन मकानों तक ले गया। जो लोग सहन या छज्जे में से होकर जा रहे थे, सब मुझे देखने ठहर गये। साफ मालूम होता था कि स्वच्छ वस्त्रों से सज्जित मनुष्य यहाँ के लिए एक विचित्र बात है।

उस लड़के ने एक औरत से पूछा कि क्या वह बता सकती है कि गणना-कर्मचारी किस मकान में गये हैं ? प्रश्न सुनते ही तीन आदमी एकसाथ बोल उठे—किसी ने कहा कि वे कुँए के पास हैं, दूसरे ने बताया कि वे वहाँ गये तो थे किन्तु अब निकिता इवान-ोविच के घर चले गये हैं।

आँगन के मध्य में एक बूढ़ा आदमी खड़ा था, जो सिर्फ़ एक कमीज पहने हुए था। उसने कहा कि वे लोग नम्बर ३० में हैं। यह निश्चय करके कि अन्तिम सूचना ही अधिक ठीक मालूम होती है, लड़का मुझे नम्बर ३० के मकान की ओर ले

चला। रास्ता निचले और अंधेरे स्थल में से होकर था, जिसमें आँगन की गन्ध से विभिन्न प्रकार की दुर्गन्ध निकलती थी।

एक अँधेरे रास्ते से हम लोग नीचे की ओर चले जा रहे थे कि इतने में एकाएक एक द्वार खुला और उसमें से कमीज़ पहने हुए एक शराबी निकला। उसकी सूरत किसानों की सी न थी। एक धोबिन आस्तीनें चढ़ाये हुए साबुन से भरे हुए हाथों से, चिल्ला-चिल्लाकर, उसे कमरे से बाहर ढकेल रही थी। मेरे पथ-प्रदर्शक बनिये ने उस आदमी को एक ओर हटाकर कहा— यों झगड़ा करने से काम न चलेगा, और फिर अफसर होकर।

जब हम नम्बर ३० पर पहुँचे तो बनिये ने दरवाज़े को खींचा। वह भीगे हुए तख्ते की सी आवाज़ के साथ खुल गया और उसके खुलते ही साबुन से भरी भाफ और तम्बाकू तथा शराबख़ाने की गन्ध की भाफ निकली। उसके अन्दर बिलकुल अँधेरा था। खिड़कियाँ दूसरी ओर थीं। हम लोग एक टेढ़े-मेढ़े दालान में पहुँचे, जिसमें कभी दाईं ओर कभी बाईं ओर जाना पड़ता था। विविध कोणों पर कुछ कमरे थे, जो यों ही तख्ते लगाकर बना लिये गये थे और उन तख्तों पर ठीक-ठीक सफेदी भी न की गई थी।

बाईं ओर के अँधेरे कमरे में एक स्त्री नाँद में कपड़े धोती हुई-सी दिखाई पड़ रही थी। एक दूसरी स्त्री दाहिनी ओर के एक दरवाज़े में खड़ी देख रही थी। एक खुले हुए द्वार के पास लाल चर्मवाला एक किसान कोच पर बैठा था, उसके जिस्म पर बहुत सारे बाल थे और छाल के जूते पहने हुए था। उसके हाथ घुटनों पर रक्खे हुए थे और पैरों को हिलाते हुए ग़मगीनी

के साथ अपने जूतों की ओर देख रहा था। रास्ते के अन्त पर एक कमरे का छोटा द्वार मिला और यहीं पर कर्मचारीगण थे। यह ३० नम्बर के मकान की मालकिन का कमरा था, जो उसने सारा का सारा आइवन फिडोटिच से किराये पर ले लिया था और स्थायी रूप से रहनेवालों अथवा रात में ठहरने वालों को अपनी ओर से भाड़े पर उठा दिया था।

इस छोटे-से कमरे में एक विद्यार्थी खिड़की के पास अपने कागज-पत्र फैलाये हुए बैठा था और मजिस्ट्रेट की भाँति एक आदमी का बयान ले रहा था। यह आदमी एक कमीज और एक वास्कट पहने था और मालकिन के मित्र की हैसियत से उसकी तरफ से जवाब दे रहा था। मकान की मालकिन—जो एक बुड्ढी स्त्री थी—खुद मौजूद थी और उसके साथ ही दो किरायेदार भी तमाशा देखने आ खड़े हुए थे।

मैं जब कमरे में घुसा तो कमरा खूब भरा हुआ था। मैं इन लोगों के बीच में से होता हुआ मेज तक पहुँचा और उस विद्यार्थी से हाथ मिलाया। विद्यार्थी ने अपने प्रश्न जारी रक्खे और मैं वहाँ के रहनेवाले लोगों से मिलकर अपने मतलब की बातें पूछने लगा।

लेकिन मालूम हुआ कि वहाँ ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसपर मैं अपनी परोपकार-वृत्ति चरितार्थ करूँ। उन कमरों की मालकिन, नगर की दरिद्रता को देखते हुए, खुशहाल कही जा सकती थी, हालांकि उसके कमरे निहायत गन्दे और वाहियात थे और मैं जिस भवन में रहता था उससे मुक़ाबला करने पर

तो वे एकदम ही मुझे हेय जँचे। किन्तु यदि ग्राम्य-दरिद्रता से मुक़ाबला करें तो कह सकते हैं कि वह ऐशो-आराम से रहती थी। उसके पास परों का बिछौना था, उसके ऊपर एक चादर थी, एक चायदानी, एक रुआँदार कोट, और तश्तरियों व कटोरियों से सजी हुई एक आलमारी भी थी। गृह-स्वामिनी का मित्र भी देखने में वैसा ही खुशहाल मालूम होता था और उसके पास एक घड़ी और चेन भी दिखाई पड़ती थी। किरायेदार ग़रीब थे सही, पर इनमें से भी कोई ऐसा न था कि जिसे तात्कालिक सहायता की आवश्यकता हो।

सिर्फ़ तीन व्यक्तियों ने सहायता के लिए प्रार्थना की। एक तो उस कपड़े धोनेवाली स्त्री ने कि जिसने कहा कि उसके पति ने उसे छोड़ दिया है। दूसरे एक वृद्ध विधवा ने कि जिसके पास रोजी का कोई सहारा न था। और तीसरे उस किसान ने, जो कि छाल के जूते पहने हुए था और जिसने कहा कि उस दिन उसे कुछ भी खाने को नहीं मिला था। किन्तु अधिक जाँच-पड़ताल करने पर यह बात मालूम हुई कि इनमें से किसी को भी मदद की ख़ास जरूरत नहीं है और इनको वास्तविक सहायता पहुँचाने के लिए यह आवश्यक था कि इनका घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया जाय।

जिस स्त्री का पति उसे छोड़कर चला गया था उसके बच्चों को किसी आश्रम में रखने का जब मैंने जिक्र किया, तब तो वह घबराई, कुछ देर तक सोचती रही और फिर मुझे धन्यवाद देकर चुप रह गई। साफ़ मालूम होता था कि यह बात उसे पसंद न आई। हाँ, वह प्रसन्न होती, यदि उसे कुछ रुपया मिल

जाता। उसकी बड़ी लड़की कपड़े धोने में मदद देती थी और छोटी लड़की बच्चे को खिलाती थी।

वह जो दूसरी वृद्ध स्त्री थी, उसने अनाथालय में रहना स्वीकार किया। पर जब उसके घर को देखा तो मालूम हुआ कि वह बहुत ज्यादा तकलीफ़ में नहीं है। उसके पास एक संदूक़ में कुछ माल था; एक चायदानी, दो प्याले और कुछ डब्बे थे, जिनमें चाय और शक्कर रक्खी थी। वह मोज़े और दस्ताने बुनती थी और किसी महिला से उसे कुछ वज़ीफ़ा भी मिलता था।

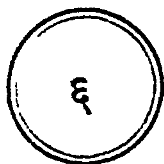
किसान को भोजन की अपेक्षा पीने की ही ज्यादा इच्छा थी। उसे जो कुछ भी दिया जाता वह कलाल के घर ही जाकर ठहरता। इसलिए मैंने देखा कि इन कमरों में रहनेवाला ऐसा एक भी नहीं है कि जिसे कुछ धन देकर मैं अधिक सुखी बना सकूँ। वहाँ सब ग़रीब ही ग़रीब रहते थे, किन्तु उनकी ग़रीबी एक विचित्र प्रकार की थी।

मैंने उस वृद्ध स्त्री का, धोबिन का और किसान का नाम अपनी नोट-बुक में लिख लिया और निश्चय कर लिया कि कुछ न कुछ इनके लिए करना होगा। किन्तु मेरा विचार था कि पहले उन लोगों को मदद दूँगा कि जो विशेष रूप से अभागे हैं और [illegible] में आगे चलकर मिलेंगे। मैंने यह भी विचार किया कि हम जो सहायता देनेवाले हैं उसको वितरण करने के लिए एक पद्धति बनानी होगी, जिससे पहले उनको सहायता पहुँचाई जाय कि जो बहुत ज्यादा हाजतमन्द हैं और उसके बाद इस प्रकार के लोगों के पास पहुँचा जाय, जैसे कि अभी मिले थे।

किन्तु मैं जहाँ-जहाँ गया वहाँ मैंने यही स्थिति देखी। उन्हें सहायता देने से पहले उनकी स्थिति का विशेष अध्ययन करने की आवश्यकता थी। ऐसा तो मुझे एक भी नहीं मिला कि जिसे केवल आर्थिक सहायता देकर सुखी बनाया जा सकता हो।

मेरा यह कथन कितना ही लज्जाजनक क्यों न हो, किन्तु सच तो यह है कि मैंने जो बात अपने मन में समझ रक्खी थी वैसा न होने से मुझे एक प्रकार की निराशा-सी हुई। लेकिन जब मैं सभी स्थानों पर घूम आया तब मुझे विश्वास हो गया कि यहाँ के रहनेवाले, मैंने जैसा सोचा था वैसे नितान्त कंगाल नहीं हैं बल्कि मैं जिन लोगों में रहता हूँ उनसे बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं।

जैसा कि हम लोगों में होता है वैसा ही इनके यहाँ भी था। इनमें भी कुछ तो नेक आदमी थे और कुछ बुरे, कुछ सुखी थे और कुछ दुखी। उनमें जो दुखी थे वे हम लोगों में रहने पर भी वैसे ही दुखी रहते, क्योंकि उनके दुःख का कारण बाहर नहीं उनके ही अन्दर था और ऐसा था जो रुपये से दूर नहीं किया जा सकता।



इन मकानों के रहनेवाले शहर के सबसे नीची श्रेणी के लोग थे और मास्को में उनकी संख्या लगभग एक लाख के थी। यहाँ सभी प्रकार के लोग रहते थे। छोटे-छोटे व्यापारी और गृह-स्वामी, जूते बनानेवाले मोची और ब्रश बनानेवाले कारीगर, बढ़ई और ताँगे हाँकनेवाले, दरज़ी और अन्य लोग जो खुद अपनी ही तरफ से स्वतंत्र धन्धा करते थे, वहाँ दिखाई पड़ते थे। कपड़े धोनेवाली स्त्रियाँ, खोमचेवाले तथा पुरानी चीज़ों को वेचने वाले, सूद पर रुपया उठानेवाले, तथा मज़दूरी करनेवाले लोगों के साथ-साथ इसी मकान में भिखारी और वेश्यायें भी रहती थीं।

यहाँ पर ऐसे भी बहुत-से लोग रहते थे, जैसे कि मैंने ल्यापिन-गृह के सामने देखे थे। किन्तु इस जगह वे मज़दूरों में बिलकुल मिल-जुल गये थे। वहाँ पर मैंने जिन लोगों को देखा था उनकी बुरी दशा थी, जो कुछ उनके पास था वह सब खाने-पीने में उड़ा दिया था और होटल में से निकाले जाने पर भूख से दुखी और सर्दी से काँपते हुए ल्यापिन-गृह में घुसने की इस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे थे, जैसे कोई स्वर्ग में प्रवेश करने के लिए तपस्या करता है। वे सदा इस बात की आशा लगाये रहते थे कि कोई आये और गिरफ्तार करके उन्हें जेल भेज दे, ताकि वे सरकार के खर्चे से घर पहुँच जायँ। उसी तरह के आदमियों को यहाँ मैंने अधिकसंख्यक मज़दूरों में मिला हुआ देखा, जिनके पास

स्थान का किराया देने के लिए कुछ कोपक थे और खाने-पीने के लिए शायद एक-दो रुबल भी उनकी जेब में पड़े हुए थे।

एक खास बात यह थी कि ल्यापिन-गृह में जो भावनायें मेरे हृदय में जागृत हुई थीं वे यहाँ न मालूम हुईं; वल्कि इसके प्रतिकूल पहले चक्कर में मेरे और विद्यार्थियों के मन पर जो असर पड़ा वह तो एक प्रकार से आनन्दमय था—किन्तु एक प्रकार से आनन्दमय था, ऐसा क्यों कहूँ? यह तो ठीक नहीं है। इन लोगों के सहवास से जो भाव हृदय में उत्पन्न हुआ था वह विचित्र भले ही लगे—सरासर आनन्द से परिपूर्ण था। इनके सम्बन्ध में पहली बात तो मेरे मन में यह पैदा हुई कि यहाँ रहनेवाले लोगों मे अधिकांश मजदूर हैं और वे प्रायः वहुत ही नेक तबियत के हैं। मैंने इन लोगों को प्रायः काम करते ही पाया। धोबिनें नाँद मे कपड़े धो रही थीं, बढ़ई बसूले चला रहे थे और मोची जूते बनाने में लगे हुए थे। छोटे-छोटे कमरे लोगों से भरे हुए थे और हँसी-खुशी तथा फुर्ती के साथ काम हो रहा था। मजदूरों के पास पसीने की, मोचियों के पास चमड़े की और बढ़इयो के पास लकड़ी के छोल की गन्ध आ रही थी। कभी-कभी किसी राग की ध्वनि भी हमारे कान में आ पड़ती थी और मजबूत खुले हुए हाथ फुर्ती और होशियारी के साथ खटाखट काम कर रहे थे।

जहाँ कहीं हम गये लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक हमारा स्वागत किया और सब हमसे मेहरबानी से पेश आये। खुशहाल लोगों के यहाँ जब जाते हैं तो वे अपनी महत्ता और कारगुजारी दिखाने तथा आगन्तुकों की वास्तविक स्थिति जाँचने की चेष्टा करते हैं। पर यहाँ काम के समय जब हम उनके सामने जा खड़े

हुए तो उनमें इस प्रकार की कोई उत्सुकता दिखाई न पड़ी, बल्कि इसके प्रतिकूल उन्होंने हमारे प्रश्नों का उत्तर बड़ी ही शान्ति के साथ दिया। हाँ, कभी-कभी इस प्रकार का मज़ाक़ ज़रूर करते थे कि गणना किस हिसाब से की जाय—अमुक मनुष्य तो दो के बराबर है और अमुक दो मनुष्यों को मिलाकर एक में लिखना चाहिए।

बहुत-से लोगों को हमने भोजन करते अथवा चाय पीते हुए पाया और जब कभी हम जाकर सलाम करते तो हर जगह से यही आवाज़ आती, 'आइए, कुछ नाश्ता कीजिए!' और उनमें से कुछ लोग तो इधर-उधर हट कर हमारे लिए स्थान भी कर देते थे। हमने तो समझा कि यहाँ खानाबदोशों की बस्ती होगी, किन्तु कुछ कोठरियाँ तो ऐसी थीं कि जिनमें वे ही किरायेदार मुद्दत से रहते चले आते थे। एक बढ़ई और उसका नौकर तथा एक मोची एक दूसरे कारीगर के साथ अब जिस कोठरी में रहते हैं उसीमें बराबर दस वर्ष से रह रहे हैं। मोची के यहाँ कूड़ा बहुत था, और जगह के लिहाज़ से आदमियों की भीड़ भी ज्यादा थी, फिर भी काम करनेवाले ख़ुश थे। एक मज़दूर के साथ बात करके मैंने यह बात जाननी चाही कि उसकी स्थिति कैसी है और अपने मालिक का वह कितना क़र्ज़दार है, किन्तु वह मेरा मतलब न समझकर अपने सुख और स्वामी के सद्व्यवहार की चर्चा करने लगा।

एक कोठरी में कोई बूढ़ा आदमी अपनी स्त्री के साथ रहता था, वह फल बेचने का रोज़गार करता था। उसका कमरा साफ़, गर्म और सामान से सजा हुआ था। फ़र्श पर चटाई बिछी थी, जो

वह अपने फलों के भण्डार से उठा लाया था। कुछ सन्दूकें, एक आलमारी, एक चायदानी और कुछ बर्तन भी थे। घर के एक कोने में कई मूर्तियाँ थीं, जिनके सामने दो चिराग़ जल रहे थे। दीवाल की खूटियों पर सुन्दर कोट टँगे हुए थे और उनपर कपड़ा ढका हुआ था। उस वृद्धा के मुँह पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं, वह दयालु और बातूनी तबियत की थी और अपने शान्त सुव्यवस्थित जीवन से सन्तुष्ट और सुखी मालूम पड़ती थी।

होटल तथा इन मकानों का मालिक आइवन फिडोटिच घर में से निकलकर कुछ दूर तक हमारे साथ आया। वह प्रसन्न वदन हो किरायेदारों से मज़ाक़ करता, उनका नाम अथवा उपनाम लेकर पुकारता और संक्षेप से उनका जीवन-चरित्र सुनाता जाता था। ये सब हमारे ही जैसे मनुष्य थे। मार्टिन सिमेनोविचीज़, पीटर पेट्रोविचीज़, मार्या इवान वनास इनमें से कोई भी अपने को दुखी नहीं समझता था और वास्तव में हममें और उनमें कोई अन्तर भी न था।

हम तो घर से यह सोचकर निकले थे कि कुछ भयंकर दृश्य हमें देखने पड़ेंगे, किन्तु यहाँ हमने जो कुछ देखा वह भयंकर तथा अशान्तिकर नहीं बल्कि आदरणीय था। इस प्रकार के सुखी लोग वहाँ इतनी अधिक संख्या में थे कि कुछ दुर्दशा-ग्रस्त, फटे चिथड़े पहने, बे-रोजगार मनुष्य जो वहाँ कभी-कभी दिखाई पड़ते थे, उनसे हमारे हृदय-पट पर अङ्कित चित्र का प्रभाव नष्ट न होता था। किन्तु इन बातों का जो असर मेरे दिल पर पड़ता था, वह विद्यार्थियों पर न होता था। वे तो केवल समाज-शास्त्र का एक उपयोगी कार्य समझकर उसे कर रहे थे और साथ

ही साथ कभी-कभी टीका-टिप्पणी करते जाते थे। पर मैं तो परोपकारी था, मैं तो यह सोचकर आया था कि इस मकान में जो दीन-दुखी, अनाथ और पतित मनुष्य रहते होंगे, मैं उनकी मदद करूँगा। किन्तु यहाँ आया तो दीन-दुखी, अनाथ और पतित मनुष्यों के बदले एकदम शान्त, सन्तोषी, सुखी, नेक और मेहनती आदमी देखने को मिले।

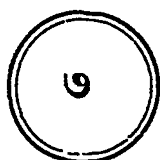
मुझे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि जिन लोगों को किसी प्रकार की सहायता की ज़रूरत थी उन्हें सहायता पहुँचाने-वाला कोई न कोई माई का लाल मिल गया है। यह सहायता पहुँचानेवाले हैं कौन ? कोई बाहर के आदमी नहीं बल्कि सहायता पहुँचानेवाले यही लोग थे कि जिन्हें दीन, दुखी और पतित जानकर मैं उबारने आया था। यह सहायता कुछ दी भी इस ढंग से गई थी कि वैसा करना मेरे लिए एकदम ही अशक्य था।

एक निचले छोटे कमरे में त्रिदोष-ज्वर से संतप्त एक बूढ़ा आदमी पड़ा था। इस संसार में उसका सगा-सम्बन्धी कोई न था। फिर भी एक स्त्री—एक विधवा स्त्री, जिसके एक छोटी लड़की थी, जो बुड्ढे से बिलकुल अपरिचित थी, जो उसके सामने वाले कोने में रहती थी, उसकी सेवा-सुश्रूषा कर रही थी, और अपने पैसे खर्च करके उसकी चाय और दवा-दारू का प्रबन्ध करती थी।

एक दूसरे कमरे में एक औरत रोग-ग्रस्त अवस्था में पड़ी हुई थी। वेश्या-वृत्ति से गुज़ारा करनेवाली एक शहरी औरत उसके बच्चे को खिलाती थी। उसे दूध पिलाने के लिए एक

शीशी भी ठीक कर ली थी और दो दिन से अपने अभागे धन्धे को बन्द कर रक्खा था। एक दर्जी ने, खुद के तीन बच्चे होते हुए भी, एक अनाथ लड़की को पालने के लिए घर में रख लिया था।

बस, तो अब दुखी लोगों में केवल इन्हींकी गणना की जा सकती थी—आलसी मनुष्य, बिना काम-काजवाले कर्मचारी तथा नौकर, भिखारी, शराबी, वेश्यायें और बालक कि जिनकी स्थिति को पैसा देकर सुधारना असम्भव था। उन्हें सच्ची सहायता पहुँचाने के लिए यह जरूरी था कि किसी प्रकार की मदद देने के पहले उनकी परिस्थिति का गौर से अध्ययन किया जाय और फिर उनकी देख-रेख रखते हुए स्थिति के अनुसार उन्हे जिस प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो वह पहुँचाई जाय। मैं तो ऐसे दीन-दुखियों की तलाश मे था कि जिन्हे अपने ढेर के ढेर धन में से कुछ देकर सहायता पहुँचाऊँ, किन्तु ऐसा कोई भी मुझे मिला नहीं कि जिसे केवल धन देकर मैं उसके जीवन को सुखी बना सकूँ। मैंने जितने आदमी देखे उनमें से कोई भी ऐसा न था कि जिसके लिए हार्दिक परिश्रम किये बिना और पर्याप्त समय दिये बिना केवल धन देकर ही उसका उद्धार किया जा सके।



मैंने जिन दुखी लोगों के नाम नोट किये थे, मेरी कल्पना में उनकी तीन श्रेणियाँ बन गई थीं। एक तो वे लोग थे, जो अपनी पहले की रोज़ी गँवा बैठे थे और उसे फिर से पाने के इच्छुक थे। इस प्रकार के लोग ऊँची तथा नीची दोनों ही तरह की जातियों में थे। दूसरे नम्बर पर वेश्यायें थीं और इस मकान में उनकी संख्या बहुत अधिक थी। तीसरे वर्ग में बालक थे। मेरी नोट-बुक में सबसे अधिक संख्या पहली श्रेणी के लोगों की थी कि जो अपनी रोज़ी गँवा बैठे थे और उसे फिर से प्राप्त करने के इच्छुक थे। इस श्रेणी में भी विशेष भाग ऐसे लोगों का था कि जो परदेशी अथवा कर्मचारी थे। इन मकानों के मालिक आइवन फिडोटिविच के साथ हम लोग कई कमरों में गये और लगभग हर जगह ही वह हमसे कहता—"यहाँ गणना—पत्रक तुम्हें स्वयं न भरना पड़ेगा फ़लाँ आदमी यहाँ रहता है वह खानापूरी कर देगा, बशर्ते कि पिये हुए न हो।"

आइवन फिडोटिविच इसके बाद उस मनुष्य का नाम और उसके साथ ही उसके कुटुम्ब का नाम जोड़कर पुकारता और प्रत्येक मनुष्य की सूरत से मालूम होता था कि पहले वह अवश्य अच्छी स्थिति में रहा होगा। आइवन फिडोटिविच की आवाज़ सुनकर दरिद्रावस्था को प्राप्त हुआ कोई सद्गृहस्थ

अथवा कर्मचारी मकान के किसी अँधेरे कोने में से निकलकर आता। प्रायः ये मनुष्य नशे में होते थे और ठीक तरह से कपड़े तो नहीं पहने होते थे। जो आदमी नशे में न होता, वह खुशी से सौंपे हुए काम को करने के लिए तैयार हो जाता। काम को बड़ी जल्दी समझ लेता और समझ गया है, यह बताने के लिए अपना सर हिलाता, सामने नज़र उठाकर विद्वत्तासूचक आलोचना भी करता और हमारा साफ छपा हुआ लाल रंग का काग़ज़ काँपते हुए हाथ से लेकर पास खड़े हुए पड़ौसियों की ओर धिक्कार की दृष्टि से देखता, मानों बड़े गर्व के साथ यह कहता कि आज तक तुमने मेरी बड़ी अवहेलना की पर आज मेरी पढ़ाई का प्रताप देखो। जिस संसार में इस प्रकार के लाल काग़ज़ छपते हैं और जिसमें वह स्वयं पहले रहता था उसके साथ फिर से सम्बन्ध स्थापित होने से वह बहुत प्रसन्न है, यह स्पष्ट मालूम पड़ता था। ऐसे मनुष्य से उसके पूर्व-जीवन के विषय में जब कभी मैं पूछता तो वह रटे हुए स्तोत्रों की भाँति उत्साह के साथ अपने सिर पर आई हुई विपत्तियों का इतिहास सुना देता। खास कर इस बात का ज़िक्र वह अवश्य करता कि अपनी योग्यता के कारण पहले वह कितने ऊँचे पद पर था।

जिनोफ-गृह में ऐसे लोगों की बस्ती जिधर देखो उधर फैली हुई थी। एक विभाग में तो ऐसे स्त्री-पुरुष बहुत अधिक संख्या में थे। वहाँ जब हम लोग पहुँचे तो आइवन फिडोटिविच ने कहा—"यह हमारे सद्गृहस्थों का विभाग है।" मकान भरा हुआ था, सभी किरायेदार, जिनकी संख्या लगभग ४० थी, वहाँ मौजूद थे। उस गृह भर में इस प्रकार के दीन-हीन वृद्ध और निस्तेज

निराश युवक और कहीं देखने में न आये। मैंने कई से बात की। सबकी कहानी एक ही सी थी, बस अन्तर केवल इतना था कि किसी की कहानी अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच गई थी और किसी की अभी अधर में ही थी। प्रत्येक मनुष्य या तो स्वयं मालदार था या उसका पिता, भाई, या चाचा धनवान् था; अथवा अब भी है, अथवा वह या उसका पिता किसी दिन किसी ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित था और फिर पीछे किसी दुश्मन की कारस्तानी से अथवा अपने ही दुर्भाग्य से या किसी आकस्मिक घटना के कारण वह अपना सर्वस्व गँवा बैठा और अब ऐसे वाहियात स्थान और दुष्ट परिस्थिति में आ पड़ा है कि जहाँ जूँ और खटमलों की हद नहीं, पहनने को फटे कपड़े हैं, पड़ोसी शराबी और चोर हैं, खाने को सूखी रोटी और नमक के सिवा कुछ नहीं। अब हाथ फैलाकर भीख माँगना ही भाग्य में लिखा है।

इन लोगों के विचार, इनकी वासनायें और स्मृतियाँ सभी भूतकाल में लीन हैं। वर्तमान तो उन्हें एकदम अस्वाभाविक, तिरस्करणीय और मन में न लाने योग्य मालूम होता है। इनके लिए वर्तमान तो जैसे है ही नहीं। उनके पास भूतकाल की मधुर स्मृतियाँ हैं और भविष्य की भव्य भावनायें, जो किसी दिन भी चरितार्थ हो सकती हैं और जिनको चरितार्थ करने के लिए बहुत थोड़ी सहायता की आवश्यकता है। किन्तु दुर्भाग्य-वश यह थोड़ी-सी सहायता उनकी पहुँच के बाहर है और वह किसी भी तरह नहीं मिलती; इसीलिए किसी का एक वर्ष, किसी के पाँच वर्ष और किसी के जीवन के पूरे तीस वर्ष व्यर्थ ही नष्ट हो गये।

एक आदमी के ऊपर किसी की मेहरबानी है, बस उसको इतनी ही जरूरत है कि वह भले आदमियों की तरह कपड़े पहन कर उसके पास पहुँच भर जाय। दूसरे को सिर्फ़ इस बात की तंगी है कि वह ठीक कपड़े पहनकर और अपना क़र्जा चुकाकर आरेल स्थान तक पहुँच जाय। तीसरा जायदादवाला आदमी है, उसको छुड़ाने और अदालत में मुक़दमा लड़ाने के लिए कुछ थोड़े से साधन की ही आवश्यकता है। यदि वह सहायता मिल जाय तो मुकदमा उसके हक़ में ही फ़ैसल होगा। यह बात एक-दम ही निश्चित है और इसके बाद तो फिर उसे किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं। हरएक का यही कहना है कि अपनी असली और स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करने के लिए कुछ बाह्य सहायता की आवश्यकता है।

यदि मैं अपनी दानवीरता के अभिमान में चूर न होता तो यह बात समझ सकने के लिए कि इनकी दुर्दशा किसी प्रकार की बाह्य सहायता से दूर नहीं हो सकती, मुझे इन वृद्ध और तरुण पुरुषों के दीन-हीन, विलास-क्षीण किन्तु दयालु मुखों की ओर जरा ध्यान से देखने भर की ही जरूरत थी। मैं समझ जाता कि चाहे कोई कितनी ही सहायता करे, इनका जीवन कभी सुखमय हो नहीं सकता, जबतक कि इनकी जीवन-सम्बन्धी भावनायें और कल्पनायें ऐसी ही बनी रहेंगी। मैं यह भी समझ लेता कि ये लोग किसी असाधारण परिस्थिति में आ पड़े हों या इनका दुःख सबसे न्यारा और अनोखा हो। यह बात नहीं है; बल्कि ये लोग बिलकुल हमारे ही जैसे हैं, इनके दुःख-सुख भी हमारे ही समान हैं।

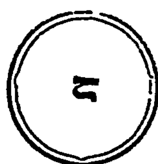
मुझे याद है कि इन ग़रीब लोगों के संसर्ग में आना मेरे लिए कितना दुःखमय हो उठा था और ऐसा क्यों हुआ यह मैं अब समझा हूँ। मैं शीशे की तरह उनके अन्दर अपने स्वरूप को देखता था। यदि मैं अपने और अपनी श्रेणी के लोगों के जीवन पर ज़रा ध्यान देता तो मैं समझ जाता कि हममें और इन अभागे मनुष्यों में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है।

मेरे पड़ोस में जो लोग रहते हैं वे ज़िनोफ़-गृह में न रहकर सिवसेव व्राज़ोक या दयिन्नोका मुहल्ले में रहते हैं और ज्वार की रोटी के बजाय भाँति-भाँति के पकवान्न खाते हैं। इसीलिए वह पहले लोगों की भाँति दुःखी न हों, ऐसी कोई बात नहीं है। उनको भी अपनी वर्तमान स्थिति से इन्हीं लोगों की भाँति असन्तोष है। ये भी अपने भूतकालीन वैभव के लिए आँसू बहाते हैं और भविष्य की सुन्दर और सुस्निग्ध कल्पनायें करते हैं। इनकी भविष्य की सुन्दर स्थिति की कामनायें ज़िनोफ़-गृह के निवासियों की कामनाओं की ही तरह होती हैं; अर्थात् ये सभी ऐसी स्थिति के इच्छुक हैं कि जिसमें इन्हे ख़ुद तो कम से कम काम करना पड़े और दूसरों की मेहन्त से अधिक से अधिक लाभ ये उठा सकें। इनमें अन्तर केवल इतना ही था कि कोई अधिक परिमाण में आलसी जीवन व्यतीत करना चाहते थे और कोई कुछ कम परिमाण में।

मैं यदि कुछ विचार करता तो यह बात समझ जाता; पर दुर्भाग्यवश मैंने उस समय विचार नहीं किया और न यही समझा कि इन लोगों का भला मेरे दान से नहीं हो सकता। इनके सुधार के लिए तो जीवन और संसार के सम्बन्ध में इन्होंने जो विचार

बना लिये हैं उनमें परिवर्तन कराने की जरूरत है। किन्तु किसी के जीवन में परिवर्तन कराने के लिए आवश्यक है कि उसके अंधे जीवन का एक आदर्श उसके सामने रक्खा जाय। किंतु चूँकि मेरे जीवन का आदर्श उनसे ऊँचा न था—जिन भ्रमात्मक भावनाओं से उन्हें मुक्त करने की जरूरत थी उन्हींमें अभी तक मैं भी फँसा हुआ था, इसीलिए इस सम्बन्ध में मैं कुछ भी न कर सका।

यदि किसी उदाहरण-द्वारा कहा जाय तो कह सकते हैं कि ये लोग इसलिए दुखी नहीं थे कि इनके पास केवल भोजन नहीं था, बल्कि इसलिए कि इनका मेदा बिगड़ गया था और इनको अब भोजन की नहीं किन्तु हाजमा दुरुस्त करने के लिए टॉनिक की जरूरत थी। मैं यह बात नहीं समझ सका कि इनको भोजन देने की जरूरत नहीं है, बल्कि यह बात सिखाने की ज़रूरत है कि भोजन किस तरह किया जाय। वैसे तो यह बात आगे आवेगी, पर इतना तो मैं कह ही दूँ कि मैंने जिन लोगों के नाम नोट किये थे उनमें से किसी को भी सच्ची सहायता नहीं पहुँचा सका, हालाँ कि जिसने जो कुछ माँगा था वह उन्हें दिया गया था। इनमें से तीन लोगों से मैं विशेष रूप से परिचित हो गया। ये तीनों ही बहुत से उतार-चढ़ाव देखकर आज तीन वर्ष पीछे फिर अपनी पहली ही जैसी असहाय अवस्था को प्राप्त हो गये हैं।



इन अभागों के दूसरे वर्ग में वेश्यायें थीं कि जिनको मदद देने का मैंने विचार किया था। इन स्त्रियों की ज़िनोफ-गृह में बड़ी भारी संख्या थी और उनमें स्त्रियों से कुछ-कुछ मिलती-जुलती किशोर लड़कियों से लेकर महा-वृद्ध भयंकर मुखाकृतिवाली स्त्रियाँ तक थीं कि जिनमें मनुष्यता का कोई नामो-निशान तक न था। इन स्त्रियों को सहायता पहुँचाने की इच्छा पहले मेरे मन में न थी, पर पीछे से हुई। उसके उदय होने का कारण यह है।

जब हम लोग अपना काम समाप्त करने पर आये तो उस समय तक हमारे कार्य की एक नियमित पद्धति बन गई थी। नये मकान में घुसते ही हम मकान के मालिक को बुलाते और हममें से एक आदमी लिखने के लिए स्थान ठीक करके बैठ जाता और दूसरा उस कमरे के स्त्री-पुरुषों के पास जा-जाकर प्रश्न करता और उसकी सूचना लिखनेवाले आदमी को दे जाता।

इस प्रकार हम एक निचले विभाग के कमरे में जब पहुँचे तो विद्यार्थी मालिक-मकान की तलाश करने लगा और मैं उस जगह पर जो लोग मौजूद थे उनसे प्रश्न करने लगा। इस विभाग की रचना इस प्रकार की थी। मकान चार गज़ लम्बा और चार गज़ चौड़ा था और उसके मध्य में अँगीठी थी। अँगीठी के पास से चार पर्दे डालकर चार कमरे निकाले गये थे। इनमें से पहलेग

कमरे में दो दरवाजे और चार पलंग थे और एक बूढ़ा आदमी तथा एक स्त्री थी। इसके बाद एक लम्बा किन्तु तंग-सा कमरा था, जिसमें मकान का मालिक रहता था, जो ऊन का भूरा कोट पहने था। उसका रंग फीका था, किन्तु वह देखने में सुन्दर मालूम होता था और अभी जवान था। पहले विभाग के बाईं ओर तीसरी कोठरी थी, जिसमें कोई आदमी पड़ा ऊँघ रहा था और शायद पिये हुए भी था। उसी कमरे में एक स्त्री थी, जो लाल रंग का गाउन पहने हुए थी। चौड़ी कोठरी उस स्थल के पीछे थी कि जहाँ से विभाग शुरू होते थे और उसमें गृह-स्वामी के कमरे में से होकर जाना होता था।

विद्यार्थी अन्तिम कमरे में चला गया और मैं पहले ही कमरे में उस पुरुष तथा स्त्री से बातें करने लगा। वह वृद्ध पुरुष पहले कम्पोजिटर था, पर अब जीविका-उपार्जन का कोई साधन उसके पास न था। वह स्त्री किसी रसोइये की पत्नी थी।

मैं तीसरे कमरे में गया और गाउनवाली स्त्री से उस सोने-वाले आदमी के निस्बत दरियाफ्त किया।

उसने जवाब दिया कि वह उसका मिलनेवाला है।

मैंने पूछा—तुम कौन हो ?

उसने उत्तर दिया—मैं मास्को रहनेवाले एक किसान की लड़की हूँ।

जब मैंने पूछा, 'तुम्हारा पेशा क्या है ?' तो उसने कोई उत्तर न दिया; चुपचाप हँसने लगी।

यह समझकर कि शायद उसने मेरे प्रश्न को समझा नहीं। मैंने फिर पूछा—तुम्हारी गुजर किस तरह होती है ?

वह बोली—मैं कोठे पर बैठती हूँ।

मैं उसकी बात नहीं समझा, इसीलिए एक बार फिर पूछा—तुम अपनी गुज़र के लिए क्या करती हो ?

उसने कोई जवाब न दिया, केवल हँसती रही। चौथे कमरे से भी, जहाँ कि हम लोग अभी नहीं गये थे, कुछ स्त्रियों के हँसने की आवाज़ आ रही थी।

गृहस्वामी अपने घर से निकलकर हमारे पास आया। उसने मेरे प्रश्न और उस स्त्री के उत्तर, मालूम पड़ता है, सुन लिये थे। उसने तीव्रता से उसकी ओर देखा और मेरी ओर घूमकर कहा—'यह वेश्या है !' उसके ढंग से मालूम पड़ता था कि वह इस बात से खुश था कि वह इस सरकारी शब्द से परिचित है और उसका शुद्ध उच्चारण कर सकता है। यह कहकर और सन्तोषपूर्ण मुस्कान के साथ मेरी ओर देखकर वह औरत की तरफ़ फिरा और उसकी तरफ मुँह फिरते ही उसके चेहरे का भाव बदल गया। अत्यन्त घृणा-सूचक और तेज़ स्वर में, जैसे कि कोई कुत्ते को दुतकारता है, उसकी ओर बिना देखे ही कहा—क्यों मूर्खों की-सी बातें करती है। यह न कह कर कि मैं कोठे पर बैठती हूँ, सीधी तरह यह क्यों नहीं कहती कि मैं वेश्या हूँ ? क्या तुझे अपना नाम भी मालूम नहीं ?

उसके बात करने के ढंग से मुझे चोट लगी।

मैंने कहा—उसे लज्जित करना हमें शोभा नहीं देता। यदि हम सब ईश्वर की आज्ञानुसार जीवन व्यतीत करते तो इस प्रकार का कोई व्यक्ति ही न होता।

गृह-स्वामी ने कृत्रिम हँसी के साथ कहा—हाँ, बात तो ठीक है।

इसीलिए उनकी भर्त्सना न करके हमें उनपर दया करनी चाहिए। इसमें उनका क्या अपराध है?

मुझे यह ठीक याद नहीं कि मैंने उस समय क्या कहा, पर यह याद है कि उसकी तिरस्कारपूर्ण बातें सुनकर मुझे बड़ी अरुचि हुई। जिस घर में वे स्त्रियाँ थीं उसीमें खड़े होकर वह उन्हें वेश्या कह रहा था। मुझे उस स्त्री पर भी दया आई और अपने मन के ये दोनों ही भाव मैंने उस समय व्यक्त किये।

ज्यों ही मैंने ये बातें कहीं त्योंही उस कमरे में कि जिसमें से औरतों के हँसने की आवाज़ आ रही थी, चारपाई की चरचराहट सुनाई दी और पर्दे के ऊपर, जो छत तक न लगा था, एक बिखरे हुए बालोंवाली का सिर दिखाई दिया। उसकी आँखें छोटी और सूजी हुई थीं, चेहरा लाल अंगारा था। उसके बाद दूसरा और फिर तीसरा सिर दिखाई दिया। वे अपनी चारपाइयों पर खड़ी हुई थीं और तीनों जनीं गर्दन उचकाये, साँस रोके, चुपचाप ध्यानपूर्वक मेरी ओर देख रही थीं।

इसके बाद थोड़ी देर तक दुःखजनक स्तब्धता रही। विद्यार्थी जो अभी तक हँस रहा था इस घटना के बाद गम्भीर हो गया, गृहस्वामी गड़बड़ा गया और अपनी आँखें नीची कर लीं और स्त्रियाँ इस आशा से मेरी ओर देख रही थीं कि देखें अब यह क्या कहता है।

किन्तु मैं सबसे अधिक घबराया हुआ था। मुझे ज़रा भी ख़याल न था कि साधारण बोल-चाल में आये हुए शब्द का इतना

प्रभाव पड़ेगा। मेरा वह कहना क्या था, क़बरिस्तान में मानों किसी देवता ने अमृत-सिञ्चन किया हो, जिससे मुर्दा हड्डियाँ फिर से जागृत होने लगीं। मैंने तो यों ही प्रेम और करुणा से पूर्ण एक शब्द कह दिया था, जिसका इन सबपर ऐसा असर पड़ा, मानों फिर से सजीव हो उठने के लिए वे इसी शब्द की प्रतीक्षा कर रही थीं।

वे बराबर मेरी ओर देख रही थीं, मानों सोच रही थीं देखें अब मेरे मुँह से क्या निकलता है। मानों वे इस बात की प्रतीक्षा कर रही थीं कि मैं उन शब्दों को कहूँ और उन कामों को करूँ कि जिनसे ये हड्डियाँ इकट्ठी होनी शुरू हो जायँगी—माँस से आच्छादित होकर पुनर्जीवन प्राप्त करेंगी।

किन्तु, हाय, मेरे पास अब न तो ऐसे शब्द थे और न ऐसे काम, और न मैं बातचीत के उस ढंग को ही क़ायम रखने में समर्थ था। मेरी अन्तरात्मा में मुझे ऐसा भास होने लगा कि मैंने झूठ बोला है, मैं ख़ुद भी उन्हींकी तरह हूँ, मुझे अधिक कुछ कहने का अधिकार भी नहीं; और इसलिए मैं पत्रक पर वहाँ के रहनेवालों का नाम और पेशा लिखने लगा।

इस घटना ने मुझे एक दूसरी ही ग़लती में ला फँसाया। मैं यह सोचने लगा कि इन अभागे जीवों को भी सहायता पहुँचाई जा सकती है। अपने गुमान में मैंने समझा था कि यह काम हो भी बड़ी आसानी से जायगा। मैंने दिल में सोचा, अभी तो हम इन स्त्रियों के नाम लिखे लेते हैं और पीछे से जब हम सब-कुछ लिख लेंगे तब इन्हीं लोगों के लिए कोशिश करेंगे। लेकिन उस समय मैंने ये न सोचा कि ये 'हम' हैं कौन? मैंने

कल्पना की कि हम लोग अर्थात् वही आदमी कि जो पुश्त-दर-पुश्त से ऐसी स्त्रियों को इस दुर्दशा में लाते रहे और अब भी ऐसा करते हैं। एक दिन, शुभ मुहूर्त में, अचानक, हम अपनी इस मोह-निद्रा से जागृत होकर सारी स्थिति को सुधार डालेंगे। किन्तु यदि मैं उस वार्तालाप का स्मरण करता कि जो उस पतित स्त्री के साथ हुआ था कि जो बीमार माँ के बच्चे की शुश्रूषा कर रही थी, तो मैं समझ जाता कि मेरी यह कल्पना कितनी मूर्खता-पूर्ण है।

हमने पहले-पहल जब उस स्त्री को बच्चे की सेवा करते देखा तो समझा कि यह लड़का उसीका है, लेकिन जब हमने उसके विषय में पूछा तो उसने साफ-साफ कह दिया कि मैं बाजार में बैठनेवाली औरत हूँ। उसने 'वेश्या' शब्द नहीं कहा। उस भयंकर शब्द का प्रयोग करना तो उस मकान के मालिक के हिस्से में था।

यह औरत बच्चेवाली है, इस कल्पना से उसकी वर्तमान स्थिति से उद्धार करने का विचार मेरे दिल में पैदा हुआ।

मैंने पूछा—क्या यह तुम्हारा बच्चा है ?

उसने उत्तर दिया—'नहीं, यह उस स्त्री का है।'

'तो, तुम क्यों उसकी शुश्रूषा कर रही हो' ?

'उसने मुझ से कहा है। वह मर रही है।'

यद्यपि मेरी धारणा ठीक न निकली, फिर भी मैं उसी ढङ्ग से बातचीत करता रहा। मैंने उससे पूछा कि वह कौन है और वह इस दशा को कैसे प्राप्त हुई ? उसने खुशी से और साफ़-साफ़ अपनी कहानी मुझे सुनादी। वह मास्कोमें रहने-

वाली किसी कारखाने के कारीगर की लड़की थी। उसको अकेली छोड़कर उसके माता-पिता मर गये। उसको चाची ने अपने घर ले जाकर उसे पाला-पोसा। चाची के घर से वह अक्सर बाज़ार में आने-जाने लगी। वह चाची भी अब मर गई थी।

मैंने पूछा—'अपने इस जीवन को बदल डालने की क्या तुम्हारी इच्छा नहीं होती ? मालूम होता था, मेरे इस प्रश्न ने उसके मन को ज़रा भी आकर्षित नहीं किया। यदि कोई बिलकुल ही असम्भव-सी बात कहे तो उसकी ओर किसी का ध्यान क्योंकर आकर्षित हो ?

ज़रा मुँह बनाकर उसने कहा—लेकिन इस पीले टिकट* वाली को रक्खेगा कौन ?

मैंने कहा—किन्तु यदि मैं तुम्हारे लिए रसोई बनाने का या कोई ऐसा ही दूसरा काम तलाश कर दूँ तो कैसा रहे ?

यह बात मैंने इसलिए कही थी कि उसका शरीर रसोई बनानेवाली स्त्रियों की तरह ही मोटा-ताज़ा था और उसका चेहरा गोल तथा भोला था।

मेरी यह बात उसे अच्छी नहीं मालूम पड़ी। उसने कहा—'रसोई बनाना ! किन्तु मुझे रोटी पकाना तो आता ही नहीं।'

उसने किञ्चित हास्य के साथ यह बात कही थी, किन्तु उसके चेहरे के भाव से स्पष्ट प्रकट होता था कि इस बात के लिए वह राजी नहीं है; इतना ही नहीं, रसोई का काम वह अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझती है।

यह स्त्री, जो बाईबिल की विधवा की तरह उपर्युक्त बीमार

---

* पीला टिकट वेश्याओं की रजिस्ट्री का सार्टिफिकेट होता था।

स्त्री की सेवा में अपना सर्वस्व लगा रही थी, वही अपनी हम-पेशा दूसरी स्त्रियों की भाँति मेहनत-मजदूरी के काम को नीच, तुच्छ तथा तिरस्कार-योग्य समझती थी। काम किये बिना ही निर्वाह करती हुई वह छोटे से बड़ी हुई थी और उसका यह जीवन उसके आस-पास रहनेवाले सभी लोगों की दृष्टि में बिलकुल ही स्वाभाविक था। यही उसका दुर्भाग्य था। इसी दुर्भाग्य के कारण वह इस दुर्दशा को प्राप्त हुई थी और अब भी उसीमें पड़ी हुई थी। इसीके कारण वह बाजारों में घूमी-फिरी। हममें ऐसा कौनसा पुरुष अथवा स्त्री है कि जो जीवन-सम्बन्धी उसकी इस भावना को बदल सके? क्या हममें ऐसे कोई आदमी हैं कि जिनका विश्वास हो कि आलस्यमय जीवन की अपेक्षा मेहनत-मजदूरी का जीवन अधिक सम्मानपूर्ण है और जो अपने इस विश्वास के अनुसार ही अपने जीवन का निर्वाह करते हैं, जो इसी सिद्धान्त को आदर और सम्मान की कसौटी बनाते हैं?

यदि मैंने इस विषय में सोचा होता तो मैं समझ जाता कि न तो मैं और न मेरी जान में कोई दूसरा ही आदमी ऐसा है कि जो किसी मनुष्य को इस रोग से मुक्त कर सके।

मैं समझ गया होता कि पर्दे के ऊपर उन स्त्रियों के जो आश्चर्य-चकित उत्सुक मुख दिखाई पड़े थे उनसे केवल आश्चर्य ही प्रकट हो रहा था। अपने जीवन को सुधारने की उनमें कोई इच्छा न थी। यह उनकी समझ में ही नहीं आता कि इसमें पाप की कौनसी बात है। यह तो वे देखती थीं कि लोग उन्हें धिक्कारते हैं, उनसे घृणा करते हैं, पर लोग क्यों उनका तिरस्कार करते हैं, यह तो उनकी समझ में न आता। इस प्रकार की स्त्रियों ने

बचपन से ही इसी तरह अपना जीवन व्यतीत किया है और वे जानती हैं कि इस प्रकार की स्त्रियाँ सदा रही हैं, अब भी हैं और वे समाज के लिए आवश्यक हैं। इतना ही नहीं सरकार की तरफ़ से इस बात के लिए कर्मचारी नियत हैं कि वे इस बात की देख-रेख रक्खें कि ऐसी स्त्रियाँ सरकार के नियमों का पालन करें।

इसके अतिरिक्त वे यह भी जानती हैं कि अन्य स्त्रियों की अपेक्षा उनका मनुष्यों पर अधिक प्रभाव है और वे उन्हें अपने वश में भी अधिक रख सकती हैं। वे यह देखती हैं कि यद्यपि वे दूषित समझी जाती हैं फिर भी समाज के स्त्री-पुरुष और खुद सरकार भी समाज में उनके स्थान को स्वीकार करती है। इसीलिए वे यह समझ भी नहीं सकतीं कि वे किस बात के लिए पश्चात्ताप करें और सुधार किस बात का करें।

एक रोज़ जब हम काम के लिए निकले तो एक विद्यार्थी ने मुझे खबर दी कि कोठरी में कोई स्त्री रहती है, जो अपनी तेरह वर्ष की लड़की को बाज़ार में बैठने के लिए भेजती है। उस लड़की को बचाने की इच्छा से मैं जान-बूझकर उसके घर गया।

माँ-बेटी बड़ी ग़रीबी से रहती थीं। माँ ४० वर्ष की ठिगनी काले रङ्ग की वेश्या थी, जो केवल बदसूरत ही नहीं बल्कि बड़ी भद्दी शक्ल की थी। बेटी भी देखने में लगभग वैसी ही थी! मैंने घुमा-फिराकर उनके जीवन के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये, पर माँ ने उन सबके बात उड़ाने के ढङ्ग के जवाब दिये। उसके चेहरे से स्पष्ट प्रकट होता था कि वह यह समझती है कि हम लोग वैर-भाव से उन्हें हानि पहुँचाने आये हैं। लड़की तो माँ की ओर

देखे बिना कोई उत्तर ही न देती थी, उसे तो अपनी माँ के ऊपर पूर्ण विश्वास था।

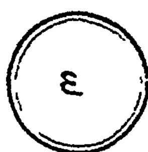
इन लोगों को देखकर मेरे हृदय में दया नहीं, उलटे घृणा पैदा हुई; किन्तु मैंने निश्चय किया कि इस लड़की की रक्षा करना आवश्यक है और इसके लिए ऐसी महिलाओं को ढूँढकर इनके पास भेजना चाहिए कि जिनके हृदय मे इनकी शोचनीय दशा के प्रति दया तथा सहानुभूति हो।

किन्तु यदि मैंने इस बात पर विचार किया होता कि इस लड़की की माँ का पूर्व-जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ, उसने लड़की को जन्म किस प्रकार दिया और किस प्रकार बिना किसी बाह्य सहायता के बड़े भारी आत्म-त्याग के साथ उसने लड़की को पाला-पोसा और बड़ा किया, यदि मैंने सोचा होता कि जीवन-सम्बन्धी किस प्रकार की धारणा उसके मन में धीरे-धीरे बन गई है, तो मैं समझ गया होता कि माता के इस व्यवहार में किसी प्रकार का कोई भी अनौचित्य अथवा पाप नहीं है; क्योंकि वह बेचारी तो अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छा से अच्छा जो कुछ अपनी लड़की के लिए कर सकती थी वही कर रही थी।

लड़की को जबरदस्ती माँ के पास से छीन ले जाना तो सम्भव था, किन्तु लड़की के धर्म और शील को इस प्रकार बेचने में कोई बुराई है, यह बात लड़की की माँ को समझा देना एकदम अशक्य था। सबसे पहली और जरूरी बात तो यह प्रतीत हुई कि इस माँ की रक्षा की जाय, उसे जीवन की इस दूषित भावना की लहर से बचाया जाय कि जिसे प्रायः सभी उपयुक्त समझते हैं और जिसके अनुसार यह उचित समझा जाता

है कि कोई स्त्री विना व्याह किये, अर्थात् विना सन्तान उत्पन्न किये, तथा बिना ही काम किये केवल विषय-वासना को तृप्त करने का साधन बन कर रह सकती है।

यदि मैंने इस स्थिति पर विचार किया होता तो मैं आसानी से समझ गया होता कि मैं जिन महिलाओं को इस लड़की के रक्षार्थ भेजना चाहता हूँ उनमें से अधिकांश न केवल स्वयं ही गार्हस्थ्य कर्तव्यों से बचती रहने की चेष्टा करती हैं और आलस्य-मय तथा विषयी जीवन व्यतीत करती हैं, वल्कि जान-बूझकर वे अपनी लड़कियों को भी इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देती हैं। यदि यह माँ अपनी लड़की को बाजार में भेजती है तो दूसरी बॉल अर्थात् नाच में तथा विलासी समाज में अपनी लड़कियों को जाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। इन दोनों ही का दृष्टि-कोण एक है; दोनों ही यह समझती हैं कि स्त्री इसीलिए बनी है कि वह पुरुषों की विषय-वासना को तृप्त करे; और इसके उपलक्ष्य में स्त्री के लिए अन्न-वस्त्र की योजना करनी चाहिए और उसकी देख-भाल रखनी चाहिए। जब स्थिति ऐसी है तब फिर भला हमारे घर की महिलायें किस प्रकार उस स्त्री का तथा उसकी कन्या का सुधार तथा उद्धार कर सकेंगी ?



मैंने बालकों के लिए जो कुछ किया, वह और भी विचित्र था। परोपकारी की हैसियत से मैंने बालकों की ओर भी ध्यान दिया। इस पाप-गुफा में निर्दोष बालकों को नष्ट होने से बचाने की मेरे मन में इच्छा हुई और यह सोचकर कि पीछे से इन लोगों के उद्धार के लिए मैं कुछ करूँगा मैंने उनके नाम लिख लिये।

उन बालकों में १२ वर्ष के शीरोघा नामक बालक की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। यह चतुर और बुद्धिमान् बालक एक जूते बनानेवाले के पास रहता था, किन्तु उस मोची के जेल चले जाने के कारण अब वह बिलकुल निस्सहाय और निराश्रित था। मुझे उसपर बड़ी दया आई और उसके साथ कुछ भलाई करने की इच्छा उत्पन्न हुई।

इस बालक का उद्धार करने की जो चेष्टा मैंने की थी उसका क्या फल हुआ, यह बात अब मैं कहूँगा; क्योंकि इस बालक की गाथा से मेरे परोपकारीपने की पोल जितनी स्पष्टता से समझ में आवेगी, उतनी और किसी तरह नहीं। मैं इस बालक को अपने घर ले आया और उसे बबरचीखाने में रक्खा। उस पाप-गुफा से लाये हुए एक दीन बालक को मैं अपने बच्चों के साथ भला कैसे रख सकता था? मैंने तो उसे अपने नौकरों के पास लाकर रख दिया। इतने ही से मैंने मन में सोचा कि मैंने उस बालक

पर बड़ी दया की। मैंने सोचा कि मैं बड़ा परोपकारी सद्-गृहस्थ हूँ, क्योंकि मैंने उसे पहनने के लिए अपने कुछ पुराने कपड़े दे दिये थे और खाने के लिए भोजन—हाँलाकि यह सब किया मेरे बवर्ची ने ही, स्वयं मैंने कुछ नहीं किया। बालक लगभग एक सप्ताह मेरे घर रहा।

एक सप्ताह-भर जो वह मेरे यहाँ रहा इस बीच में दो बार मैं उससे मिला और उसके पास से गुज़रते हुए दो-चार शब्द भी उससे कहे और जब घूमने निकला तो एक जाने-पहचाने मोची के पास जाकर उस लड़के को उम्मेदवार की तरह अपने पास रख लेने का प्रस्ताव किया। एक किसान ने, जो घर पर मिलने आया था, उस लड़के से उसके गाँव में जाकर एक परिवार में काम करने के लिए कहा; किन्तु उसने अस्वीकारे कर दिया और उसी सप्ताह वह कहीं भाग गया।

उसको तलाश करने के लिए मैं ज़िनोफ़-गृह गया। वह वहाँ लौट गया था, किन्तु जिस समय मैं वहाँ गया उस समय वह वहाँ नहीं था। किसी सरकस में नौकरी करते उसे दो दिन हो गये थे। वहाँ एक हाथी को लेकर रंग-बिरंगे कपड़े पहन कर उसे जलूस के साथ चलना होता था। उन दिनों कोई तमाशा हो रहा था।

मैं उससे मिलने फिर गया, किन्तु वह ऐसा कृतघ्न था कि जान-बूझ कर मेरे पास न आया। यदि मैंने उस बालक के और स्वयं अपने जीवन पर विचार किया होता, तो मैं समझ गया होता कि सुखी और आलसी जीवन का मज़ा चखने के कारण उसकी आदत बिगड़ गई है और वह काम करने का अभ्यास खो बैठा

है। मैं उसका उपकार तथा सुधार करने के लिए उसे अपने घर ले गया। पर मेरे घर जाकर उसने क्या देखा? उसने मेरे बच्चों को देखा, जिनमें कुछ उससे बड़े थे, कुछ छोटे थे, और कुछ उसके बराबर थे। सिर्फ इतना ही नहीं कि ये सब बालक स्वयं कुछ काम न करते थे बल्कि दूसरों से जितना अधिक काम हो सकता था लेते थे। उनके आस-पास जो कुछ होता उसे वे नष्ट-भ्रष्ट कर देते। सब प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ उड़ाते और रकाबियों को तोड़-फोड़ डालते और जो चीजें उस बालक के लिए नियामत-जैसी मालूम होतीं उन्हें इधर-उधर बखेर देते अथवा कुत्तों को डाल देते। एक निकृष्ट स्थान से लाकर उसे एक सम्मानित गृह में जब रक्खा, तब यह बिलकुल स्वाभाविक था कि उस घर में जीवन-सम्बन्धी जो धारणायें लोगों की थीं उन्हें वह भी ग्रहण करे और इन धारणाओं के अनुसार उसने यही समझा कि सम्मानित गृह में इस प्रकार रहना ज़रूरी है कि जिससे कोई काम तो न किया जाय, बस खाना-पीना और मौज उड़ाना अपना लक्ष्य रहे।

यह सच है कि वह यह नहीं जानता था कि मेरे बच्चों को लैटिन और ग्रीक भाषाओं के व्याकरण सीखने में बहुत श्रम करना पड़ता है और न वह इस कार्य की उपयोगिता को ही समझ सकता था। किन्तु यह निस्सन्दिग्ध है कि यदि उपयोगिता को वह समझ भी गया होता तो मेरे बालकों के उदाहरण से उस-पर और भी अधिक उलटा प्रभाव पड़ता। तब वह यह समझ गया होता कि उनको शिक्षा ही इस प्रकार की दी जाती है कि अभी काम न करते हुए, पीछे भी, वे यथासम्भव कम से कम काम करें और अपनी उपाधियों के बल पर जीवन का आनन्दोपभोग करें।

लेकिन वह जो कुछ समझा उससे वह उस किसान के घर जाकर चराने और आलू खाकर तथा क्वास ❀ पीकर गुज़ारा करने पर राज़ी न हुआ बल्कि सरकस में जंगली आदमी की पोशाक पहन कर ६ पेंस रोज़ पर हाथी दौड़ाना उसने अधिक पसन्द किया। मुझे समझ जाना चाहिए था कि जो आदमी अपने बच्चो को आलस्य और विलास के वातावरण में शिक्षा दे उसके लिए यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात है कि वह दूसरे आदमियों तथा उनके बच्चों को सुधारने का दम भरे और ज़िनोफ़-गृह में, कि जिसे मैं निकृष्ट स्थानों में गिनता हूँ, उन्हें पतन और आलस्य से सुरक्षित रखने की चेष्टा करे, हालाँकि उस स्थान के तीन-चौथाई मनुष्य अपने लिए तथा दूसरो के लिए काम करते हुए जीवन निर्वाह करते हैं।

ज़िनोफ़-गृह में अनेक बालक बड़ी बुरी दशा में थे। उनमें वेश्याओं के बच्चे थे, अनाथ बालक थे और कुछ ऐसे लड़के थे कि जिन्हे भिखारी साथ लेकर सड़क पर घूमते थे। उन सभी की बड़ी दुर्दशा थी। किन्तु शीरोज़ा के अनुभव ने मुझे यह बता दिया था कि जबतक मैं इस प्रकार का आलस्य और विलास-पूर्ण जीवन व्यतीत करता रहूँगा उस समय तक उनको वास्तविक सहायता पहुँचाना मेरे लिए असम्भव है।

मुझे याद है कि वह लड़का जबतक हमारे पास रहा मैंने इस बात की बड़ी चेष्टा की कि वह हमारी और ख़ास कर हमारे बच्चों की जीवन-पद्धति जान न पाय। मुझे ऐसा महसूस होता था

❀ एक प्रकार की पीने की चीज़।

कि मेरे और मेरे बच्चों के जीवन के उदाहरण के कारण उस बालक को अच्छे और उद्योगी जीवन की शिक्षा देने की मेरी सारी चेष्टायें विफल हो रही हैं। किसी वेश्या या भिखारी से बालक को छीन ले जाना सरल है। यदि किसी के पास धन हो तो उसे नहलाना-धुलाना, अच्छे कपड़े पहनाना, अच्छा खाना खिलाना और भाँति-भाँति की विद्यायें आदि पढ़ाना भी बहुत ही सरल है; किन्तु ऐसी शिक्षा देना कि वह खुद अपनी मेहनत से रोज़ी कमाये—यह हम लोगों के लिए, कि जो खुद ऐसा नहीं करते हैं बल्कि जिनका आचरण बिलकुल इसके विपरीत है, केवल कठिन ही नहीं, असम्भव है। क्योंकि अपने उदाहरण से और अपनी रुचि के अनुसार उसके जीवन में जो बाह्य आडम्बरपूर्ण परिवर्तन हम लोग करते हैं उससे उसको बिलकुल उलटी ही शिक्षा मिलती है।

किसी कुत्ते को लेकर उसे पुचकारना, खिलाना-पिलाना और चीज़ें उठाकर ले चलने की शिक्षा देना और उसके करतबों को देख-देख कर प्रसन्न होना ठीक हो सकता है, पर मनुष्य के सम्बन्ध में ठीक वैसी ही बात नहीं है—उसे पाल-पोस कर बड़ा करना और ग्रीक सिखा देना ही पर्याप्त नहीं है। उसे तो सिखाना होगा कि वास्तव में जिया किस तरह जाता है, अर्थात् किस तरह दूसरों से कम से कम लेकर बदले में उन्हें अधिक प्रदान किया जाय। किन्तु हम अपनी जीवन-शैली से तो उसे बिलकुल उलटी ही बातें सिखाते हैं। उसे चाहे हम घर में रक्खें अथवा किसी संस्था में, हमारे जीवन से वह यही सीखेगा कि किस तरह कम से कम सेवा करके दूसरों से अधिक सेवा कराई जाय।

———

१०

त्यापित-गृह में मनुष्यों के प्रति करुणा और अपने प्रति घृणा का जो भाव मेरे मन में उदय हुआ था, उसका वैसा तीव्र अनुभव फिर मुझे कभी नहीं हुआ। मैंने जो योजना प्रारम्भ कर दी थी उसीको पूर्ण करने का मुझे धुन थी और मैं चाहता था कि जिन लोगों से मैं मिला था उनका कुछ उपकार करूँ।

साधारणत: ऐसा समझा जाता है कि किसी के साथ भलाई करना और हाजतमन्दों को आर्थिक सहायता देना अच्छा काम है और इससे मनुष्यों में विश्व-प्रेम की भावना उत्पन्न होनी चाहिए; किन्तु कहते आश्चर्य होता है कि मेरे ऊपर बिलकुल उलटा असर पड़ा, मेरे मन में तो उससे लोगों के प्रति कटुता और उन्हें बुरा-भला कहने की इच्छा उत्पन्न हुई। पहले ही दिन के भ्रमण में त्यापित-गृह की तरह का-सा एक दृश्य देखने में आया; किन्तु उस समय जो प्रभाव मेरे दिल पर पड़ा, वह पहले जैसा नहीं बल्कि उससे बिलकुल भिन्न था। उसका प्रारम्भ इस तरह हुआ। एक कोठरी में कोई दुखिया स्त्री पड़ी हुई थी, जिसने दो दिन से कुछ भी भोजन नहीं किया था। उसके लिए तात्कालिक सहायता की आवश्यकता थी।

इस बात का पता मुझे इस प्रकार चला। एक बड़े से रिक्त-प्राय अनाथावास में एक वृद्धा से मैंने पूछा कि यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति भी है, जिसे खाने को कुछ न मिला हो? थोड़ी देरतक वह

झिझकी और उसके बाद उसने दो नाम बताये, किन्तु फिर एका-एक जैसे उसे अकस्मात् याद आ गई हो, वह बोली—'हाँ, उनमें एक तो यहीं पड़ी हुई है।' एक चारपाई की ओर इशारा करके उसने कहा—'इसके पास तो सचमुच ही खाने को कुछ भी नहीं है।'

"ऐसी बात है, यह है कौन ?"

"वह भ्रष्ट स्त्री रही है और चूँकि अब उसके पास कोई नहीं आता, इसलिए वह कुछ पैदा नहीं कर सकती। घर की मालकिन ने अबतक तो दया करके उसे रहने दिया, किन्तु अब वह उसे निकाल बाहर करना चाहती है।" बुढ़िया ने चिल्ला कर पुकारा, 'अगाफिया, ओ अगाफिया !'

हम लोग कुछ आगे बढ़े और चारपाई पर से कुछ उठता हुआ दिखाई पड़ा। यह सफ़ेद बिखरे बालोंवाली स्त्री क्या थी, फटी हुई मैली कमीज़ पहने मानों हड्डियों का एक ढाँचा था। उसकी गतिविहीन आँखों में एक विचित्र प्रकार की चमक थी। उसने आँखें फाड़ कर हमारी ओर देखा, नीचे खिसकी हुई जाकेट को खींच कर उसने अस्थि-शेष छाती को ढकने की चेष्टा की, और उसके बाद कुत्ते की तरह गुर्रा कर बोली—क्या है ? हें, क्या है ?

मैंने पूछा—तुम्हारी गुज़र कैसे होती है ?

कुछ देर तक तो वह मेरा मतलब ही न समझ सकी, अन्त में बोली—मुझे खुद नहीं मालूम। वह मुझे निकाल देना चाहते हैं।

मैंने फिर पूछा—और यह लिखते मुझे कितनी लज्जा मालूम होती है—कि क्या यह सच है कि तुम भूखों मर रही हो ?

उसी उत्तेजित स्वर में वह बोली—मुझे कल भी कुछ खाने को नहीं मिला, और न आज कुछ खाने को मिला है।

इस स्त्री की दुर्दशा देखकर मेरे दिल पर गहरा असर हुआ; किन्तु ल्यापिन-गृह के दृश्य को देखकर जो असर मुझपर पड़ा था, उससे यह बिलकुल विभिन्न था। ल्यापिन-गृह में तो लोगों पर दया करके मैं स्वयं लज्जित और कुण्ठित हो रहा था; किन्तु यहाँ मुझे इस बात की ख़ुशी थी कि जिस बात की खोज थी वह चीज़ अर्थात् एक भूखा जीव अन्ततः मुझे मिल गया।

मैंने उसे एक रुबल दिया और मुझे याद है कि लोगों ने वह रुबल देते हुए मुझे देखा, इससे मुझे प्रसन्नता हुई। तुरन्त ही उस बूढ़ी स्त्री ने भी मुझसे पैसा माँगा। उस समय दान करना इतना अच्छा मालूम होता था कि मैंने बिना इस बात का विचार किये कि उसे देना ज़रूरी है कि नहीं, उसे भी कुछ दे ही दिया। वह द्वार तक मुझे पहुँचाने आई और जो लोग दालान में खड़े थे उन्होंने यह सुन लिया कि वह मुझे खूब आशीर्वाद दे रही है। मैंने दरिद्र आदमियों के लिए जो पूछा था. इससे शायद इन लोगों के दिलों में कुछ आशा पैदा होगई थी; क्योंकि कुछ निवासी जहाँ-जहाँ हम जाते हमारे पीछे-पीछे घूमते थे।

माँगनेवाले लोगों में मैंने देखा कि शराब पीनेवाले लोग हैं, इससे मेरे दिल पर बड़ा ही बुरा असर पड़ा; किन्तु उस वृद्धा को एक बार देखने के बाद मैंने समझा कि इन्हें मना करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है, और इसलिए मैं उन लोगों को भी देने लगा। इससे तो माँगनेवालों की संख्या में और भी वृद्धि हो गई और तमाम अनाथावास में धूम-सी मच गई। सीढ़ियों पर तथा छज्जों में लोग मेरे पीछे आते दिखाई दिये।

जब मैं सहन के बाहर निकला, एक लड़का जल्दी-जल्दी सीढ़ी

पर से उतरता और लोगों को ढकेलता हुआ वहाँ आया। उसने मुझे देखा नहीं और चिल्लाकर कहने लगा—

'अगाफ़िया को उसने एक रुवल दिया है!'

फ़र्श पर पहुँच कर वह भी मेरे पीछे चलने वाली भीड़ में मिल गया। इतने में, मैं बाहर सड़क पर आया। हर तरह के आदमी इकट्ठे होकर पैसे माँगने लगे। मेरे पास जितने फुट-कर पैसे थे वे जब समाप्त हो गये तो मैं एक दूकान में गया और उसके मालिक से दस रुवल की रेज़गारी माँगी।

ल्यापिन-गृह में जैसा दृश्य देखने में आया था वैसा ही दृश्य यहाँ उपस्थित हुआ। भयानक गड़बड़ मच गई। बूढ़ी स्त्रियाँ, कंगाल, सद्‌गृहस्थ, किसान और बच्चे आकर दूकान के पास जमा हो गये और पैसे माँगने के लिए हाथ फैलाने लगे। मैंने उन्हें दान दिया और कुछ लोगों से मैंने उनका नामादि पूछकर नोटवुक में दर्ज कर लिया। दूकानदार अपने कोट के वालोंवाले कालर को ऊपर की ओर लौटाकर वुत की तरह ख़ामोश वैठा था। कभी वह भीड़ की ओर देख लेता था और कभी दूर किसी चीज़ पर नज़र डालता। अन्य सभी लोगों की भाँति वह भी सोच रहा था कि यह सब कितनी वड़ी वेवकूफ़ी है, किन्तु ऐसा कहने की उसे हिम्मत न होती थी।

ल्यापिन-गृह में लोगों की दरिद्रता और दुर्दशा देखकर मेरे दिल को गहरी चोट पहुँची। मैंने समझा कि इनकी इस अवस्था के लिए मैं अपराधी हूँ और इसीलिए मेरे हृदय में यह भावना जागृत हुई थी कि मैं अच्छा आदमी वन सकता हूँ। यहाँ पर भी दृश्य यद्यपि वैसा ही था, किन्तु उसका विलकुल विभिन्न प्रभाव

मेरे ऊपर पड़ा। एक तो मुझे उन लोगों पर क्रोध आया कि जो मुझे घेर कर तंग कर रहे थे और दूसरे मुझे इस बात की चिन्ता थी कि ये दूकानदार और दरबान अपने मन में क्या कहते होंगे।

जब मैं उस दिन घर लौट कर आया तो मेरे चित्त पर एक बोझ-सा था। मैं जानता था कि मैंने जो कुछ आज किया है वह मूर्खतापूर्ण और मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध है; किन्तु जब मेरा अन्तरात्मा प्रताड़ित होने लगा तो सदा की भाँति मैं और भी ज़ोर के साथ अपनी योजना के विषय में बातें करने लगा, मानों उसकी सफलता में मुझे ज़रा भी सन्देह न था।

दूसरे दिन मैं अकेला उन लोगों के पास गया कि जिनके नाम मैंने अधिक दुखी समझ कर लिख लिये थे और जिन्हें मैं समझता था कि सरलतापूर्वक सहायता पहुँचा सकूँगा। किन्तु जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, मैं इनमें से किसी को भी कोई वास्तविक सहायता न पहुँचा सका। मैंने देखा कि जैसा मैंने समझा था उससे यह काम कहीं अधिक कठिन है। सारांश यह है कि इन लोगों के पास जाकर मैंने इन्हें केवल दुखी ही किया, सहायता किसी को भी न पहुँचा सका।

गणना का काम समाप्त होने से पहले मैं कई बार जिनोफ़-गृह में गया और हर बार वही बात हुई। स्त्री और पुरुषों की भीड़ आकर मुझे चारों ओर से घेर लेती थी और मैं परेशान हो जाता था। मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि इन माँगने वालों की संख्या इतनी बड़ी है कि मुझसे कुछ करते-धरते न बन पड़ेगा। और यदि मैं उनमें से एक-एक को लूँ तो मेरे हृदय में उनके लिए

कोई सहानुभूति न थी। क्योंकि मुझे मालूम होता था कि हरएक आदमी झूठ बोलता है, या कम से कम बिलकुल सच्ची बात तो नहीं ही कहता। मैंने देखा कि हरएक मुझे रुपयों की थैली समझता है और उसमें से अधिक से अधिक रुपया निकाल लेने के लिए उत्सुक है। प्रायः मुझे ऐसा भी भास हुआ कि जो रुपया वे मुझसे ले जाते थे उससे उनकी दशा सुधरती नहीं, उलटी बिगड़ती थी। इस काम में मैं जितना ही अधिक आने-जाने लगा, यहाँ के लोगों से जितना अधिक मेरा परिचय हुआ, उतना ही मुझें विश्वास होने लगा कि यह काम बनने का नहीं है। किन्तु मनुष्य-गणना की अन्तिम रात्रि के भ्रमण से पहले तक मैंने अपने निश्चित किये हुए कार्य को छोड़ा नहीं।

उस अन्तिम दिन के भ्रमण को स्मरण करके मुझे विशेष लज्जा मालूम होती है। इससे पहले मैं अकेला ही जाता था, किंतु आज हम २० जने इकट्ठे होकर गये। उस दिन जो लोग मेरे साथ जानेवाले थे वे सात बजते ही मेरे घर आ गये। उनमें से बहुत-से अपरिचित थे—कुछ विद्यार्थी थे, एक कर्मचारी, और मेरी श्रेणी के दो मेरे परिचित सज्जन थे। इन दोनों सज्जनों ने प्रचलित प्रथा-नुसार प्रणाम करके कहा—क्या हमें भी गणना पत्रक भरनेवालों में दाखिल करने की कृपा करेंगे ?

ये परिचित सज्जन शिकारी जाकेट और ऊँचे सफ़री बूट पहने हुए थे। ऐसी पोशाक शिकार के वक्त ही पहनने का रिवाज है। ग़रीबों के यहाँ जाते समय भी ऐसी ही पोशाक पहनना उन्होंने उचित समझा होगा। वे अपने साथ सुन्दर नोटबुक और मोटी-मोटी रङ्ग-बिरंगी पेन्सिलें लेते आये थे। शिकार,

कुश्ती अथवा युद्ध के लिए जाते समय जिस प्रकार का उत्साह लोगों में होता है उसी प्रकार की भावना का अनुभव ये लोग कर रहे थे। इन लोगों को देखकर मैं अच्छी तरह समझ सका कि हमारा यह काम कितना व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण है। किन्तु बाक़ी के हम लोगों की भी क्या वैसी ही हास्यास्पद स्थिति नहीं थी ?

घूमने के लिए निकलने से पहले युद्ध-परिषद् के समान परामर्श के लिए एक सभा की और किस तरह काम किया जाय और किस तरह विभाग करके काम बाँट लिया जाय आदि बातों का निश्चय किया। ऐसी परिषदों तथा सभा-समितियों में जैसी चर्चा होती है ठीक वैसी ही चर्चा हम लोगों ने भी की। हममें से हरएक मनुष्य को कुछ न कुछ बोलना ही चाहिए। इसलिए नहीं कि कोई नई बात कहनी अथवा पूछनी है, बल्कि सिर्फ़ इसलिए कि दूसरे बोलते हैं और हम उनसे पीछे न रह जायँ। मैंने जो अभी तक बार-बार परोपकार की बात कही थी, इस चर्चा में किसी ने उसका ज़िक्र तक नहीं किया। मुझे कहते लज्जा मालूम हुई, फिर भी सबको इस बात की याद दिलाना मैंने अपना कर्तव्य समझा कि गणना के काम के साथ ही साथ हमें परोपकार का काम भी करना है—अर्थात् जितने लोग दीन दशा में दिखाई पड़ें उनके नाम नोट कर लिये जायँ।

सभी ने मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुना और, मालूम पड़ता है, उनके दिलों पर असर भी पड़ा और मुख से सभी ने अपनी सहमति और सहानुभूति भी प्रकट की। किन्तु यह स्पष्ट ही मालूम पड़ता था कि उनमें से प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि ये सब

बातें मूर्खतापूर्ण हैं, इनसे कुछ होगा नहीं, और शायद इसलिए वे तुरन्त ही दूसरे विषयों पर बातें करने लगे और उनकी वे बातें उस वक्त तक जारी रहीं कि जबतक हमारी रवानगी का समय न आ गया।

हम लोग उस अँधेरे मकान में पहुँचे, नौकरों को जगाया और अपने काग़ज़ों को छाँटने लगे। हमने जब सुना कि हमारे आने की ख़बर पाकर लोग बाहर चले जा रहे हैं, तो हमने गृह-स्वामी से कह कर दरवाज़े में ताला लगवा दिया और फिर सहन में जाकर उन लोगों से ठहरने के लिए कहा कि जो भाग जाना चाहते थे। हमने उन्हें विश्वास दिलाया कि हम लोगों में से कोई भी तुम्हारे पासपोर्ट न माँगेगा। उन घबराये हुए किरायेदार लोगों की मूर्तियों को देखकर मेरे हृदय में जो विचित्र दुःखप्रद भावना जागृत हुई, वह मुझे याद है। अर्ध-नग्न और मैले-कुचैले तथा फटे-पुराने कपड़े पहने हुए वे लोग उस अन्धकारपूर्ण प्रांगण में, लालटेन की रोशनी में, बहुत लम्बे मालूम पड़ते थे। भय से भीत तथा भीषण बने हुए वे सब, दुर्गन्धपूर्ण टट्टी के पास खड़े हुए, हम लोगों के आश्वासन को सुन रहे थे; पर उन्हें उसपर विश्वास न होता था। स्पष्ट प्रतीत होता था कि शिकार के लिए घेरे हुए जानवरों की तरह अपनी जान बचाने के लिए वे सब-कुछ कर गुज़रने पर उतारू हैं।

हर तरह के सद्‌गृहस्थ, नागरिक तथा गाँव के पुलिसमैन, सरकारी कर्मचारी तथा न्यायाधीश उन्हें अपनी ज़िन्दगी-भर नगरों तथा ग्रामों में, सड़कों तथा गलियों में, सरायों तथा अनाथावासों में ही नहीं बल्कि हर तरह सताते रहे हैं और आज रात को

एकाएक यह महानुभाव आकर दरवाजा बन्द कर देते हैं सो भी क्यों ? सिर्फ़ उनको गिनने के लिए ! उन्हें इस बात पर विश्वास करना उतना ही कठिन प्रतीत होता था, जितना खरगोशों को इस बात पर विश्वास करना मुश्किल मालूम होगा कि कुत्ते उन्हें पकड़ने के लिए नहीं केवल उन्हें गिनने के लिए आये हैं। हमने तो दरवाज़े बन्द करा दिये थे। इसलिए बेचारे डरे हुए लोग अपनी-अपनी जगह चले गये। हम लोगों ने टोलियाँ बनाकर काम शुरू कर दिया।

मेरे साथ मेरे वे दो परिचित सज्जन तथा दो विद्यार्थी थे। वान्या एक लम्बा कोट और सफेद पाजामा पहने तथा लालटेन हाथ में लिए हमारे आगे-आगे चल रहा था। हम उन कमरों के अन्दर घुसे कि जिनसे मैं भली-भाँति परिचित था। उस स्थान से मैं परिचित था और कुछ लोगों को भी जानता था; किन्तु अधिकांश लोग मुझे अपरिचित मालूम पड़े और वह दृश्य भी नया और भयानक था—ल्यापिन-गृह में जो दृश्य देखने में आया था उससे भी अधिक भयानक। सब कमरे तथा खाटें भरी हुई थीं और उन सबमें प्रायः दो-दो मनुष्य थे। मनुष्यों की भीड़ तथा स्त्री-पुरुषों के अनियमित एकीकरण के कारण दृश्य भयानक मालूम होता था। जो स्त्रियाँ शराब के नशे में एकदम बदहोश न थीं वे सब पुरुषों के साथ सो रही थीं। बहुत-सी स्त्रियाँ बच्चों को साथ लेकर तंग खाटों पर अजनबी आदमियों के साथ सो रही थीं।

इन लोगों की दीनता, मलीनता, अर्ध-नग्नता तथा भीति से एक बड़ा ही भयानक दृश्य पैदा हो गया था और खास कर इसलिए कि इन विचित्र भयावह जीवों का एक बड़ा भारी जमघट वहाँ पर था !

एक कोठरी, फिर दूसरी, फिर तीसरी, दसवीं, बीसवीं—इस प्रकार की अनन्त कोठरियाँ थीं। सभी में वही दुर्गन्ध, वही मलिन वातावरण, वही भीति, शराब पीकर बेहोश पड़े हुए तथा परस्पर घुले-मिले स्त्री-पुरुषों का वैसा ही गड़बड़ाध्याय, सबके चेहरों पर वैसा ही भय, वैसी ही दीनता तथा अपराध की छाया थी। यह सब देखकर ल्यापिन-गृह की भाँति यहाँ भी मेरे मन में ग्लानि, दुःख और लज्जा पैदा हुई; और आखिरकार अब मैं समझा कि मैं जो कुछ करने जा रहा हूँ वह बड़ा ही अरुचिकर, मूर्खतापूर्ण तथा एकदम ही असम्भव है। यह समझ कर कि मेरी ये सब चेष्टायें व्यर्थ हैं, मैंने लोगों के नाम लिखना तथा उनसे प्रश्नादि पूछना छोड़ दिया।

इससे मेरे हृदय को बड़ी चोट पहुँची। ल्यापिन-गृह में तो सिर्फ इतनी ही बात थी कि जैसे किसी ने किसी दूसरे मनुष्य के शरीर पर कोई बीभत्स घाव देखा हो। उसे देख उस मनुष्य को दुःख होता है, उसे अभी तक सहायता न पहुँचाई इसके लिए लज्जा मालूम होती है, किन्तु उसे फिर भी यह आशा रहती है कि वह उस दुखी मनुष्य की अब कुछ सहायता अवश्य कर सकेगा। किन्तु आज तो मेरी स्थिति उस डाक्टर की भाँति थी कि जो अपनी औषधियाँ लेकर मरीज़ के पास जाता है, जख्म को खोलता है, दवा लगाता है, किन्तु अन्त में देखता है कि उसने अभीतक जो कुछ किया वह सब व्यर्थ है—उसकी दवा से रोगी को कोई लाभ न पहुँच सकेगा !

११

इस भ्रमण ने मेरी कल्पनाओं की एकदम कलई खोल दी। अब यह स्पष्ट हो गया कि मैं जो कुछ करने जा रहा हूँ वह केवल व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण ही नहीं हानिकारक भी है। किन्तु यह सब कुछ समझने पर भी मुझे ऐसा मालूम हुआ कि अभी इसको जारी रखना ही मेरा कर्तव्य है; और इसके कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि अपने लेख से तथा मुलाक़ातों से मैंने ग़रीब लोगों के दिलों में आशा उत्पन्न कर दी थी। दूसरा कारण यह था कि उसी लेख तथा वार्तालाप से कुछ परोपकारी तथा दानी महाशयों की सहानुभूति इस काम के लिए प्राप्त कर ली थी; और उनमें से कई लोगों ने स्वयं सहायता करने तथा धन देने का वचन भी दिया था। मैं आशा कर रहा था कि दोनों ही पक्ष विनती करते हुए मेरे पास आयँगे और मुझे दोनो ही को यथाशक्ति सन्तुष्ट करना चाहिए।

ग़रीब आदमियों की अर्ज़ियों की जो मैं राह देख रहा था उसका विवरण इस प्रकार है—मुझे १०० से ऊपर प्रार्थना-पत्र मिले और यदि मैं एक विचित्र शब्द का प्रयोग करूँ तो कह सकता हूँ कि वे सब 'धनिक दरिद्रों' की ओर से आये थे। उनमें से कुछ लोगों से तो मैं जाकर मिला और कुछ का जवाब नहीं दिया। किन्तु मैं किसीके लिए भी कुछ न कर सका। सभी अर्ज़ियाँ ऐसे लोगों का तरफ़ से आई थीं कि जो एक समय अच्छी

स्थिति में थे (अच्छी अथवा भाग्यशाली स्थिति से मेरा मतलब उस स्थिति से है कि जिसमें मनुष्य दूसरों से लेता अधिक है और उन्हें देता है कम), किन्तु अब उनकी हालत बिगड़ गई है और फिर वे अपनी पहली दशा में आना चाहते हैं।

एक को अपना व्यापार नष्ट होने से बचाने के लिए तथा बच्चों को शिक्षा के लिए दो सौ रुबल की जरूरत थी। दूसरे को फ़ोटोग्राफ़ी के लिए दूकान चाहिए थी। तीसरे को कर्ज़ा चुकाने तथा अपने अच्छे कपड़े गिरवी से छुड़ाने के लिए धन की आवश्यकता थी। चौथे को कुछ पियानो बजाना आता था, उसे पूरी तरह सीख कर उसके द्वारा कुटुम्ब का भरण-पोषण करने के लिए एक पियानो चाहिए था। अधिकांश प्रार्थियों ने कितनी रक़म चाहिए, इसका उल्लेख न किया था, केवल सहायता माँगी थी; किन्तु जब मैंने इसका अन्दाज़ा लगाना चाहा कि उन्हें कितने रुपये की ज़रूरत है, तो मैंने देखा कि सहायता के अनुसार उनकी आवश्यकतायें भी बढ़ती जाती हैं। मैं जो कुछ देता था उससे वे सन्तुष्ट न होते और हो भी नहीं सकते। मैं यह फिर कह देना चाहता हूँ कि यह सम्भव है कि दोष मेरी समझ का हो, किन्तु बहरहाल मैं किसी की सहायता न कर सका, हालाँकि उन्हें सहायता पहुँचाने की मैंने पूरी कोशिश की।

अब उन परोपकारी सज्जनों का हाल सुनिए कि जिनके सहयोग की मैं आशा कर रहा था। उनका विचित्र हाल हुआ—ऐसा कि जिसकी मुझे बिलकुल ही आशा न थी। जिन लोगों ने धन से सहायता देने का वचन दिया था और जो रक़म वे देना चाहते थे उसकी तादाद भी बता दी थी, उनमें से एक ने भी ग़रीबों

में वितरण करने के लिए कुछ न दिया। आर्थिक सहायता के जो वचन मुझे मिले थे उनका हिसाब लगाया जाय तो लगभग ३हज़ार रुबल होते हैं। किन्तु इन लोगों में से एक ने भी अपने वचन को याद न रक्खा और किसीने एक कोपक भी मुझे न दिया। हाँ, केवल विद्यार्थियों ने लगभग १२ रुबल मुझे दिये थे, जो मनुष्य-गणना का कार्य करने के उपलक्ष्य में उन्हें मिले थे। मेरी जिस योजना के अनुसार धनी लोगों में से लाखों रुबल एकत्र करके सैकड़ों तथा हज़ारों मनुष्यों का दारिद्र्य तथा पाप से उद्धार करना था उसका यह अन्त हुआ कि विद्यार्थी लोगों ने जो कुछ रुबल दिये थे और सिटी कौन्सिल के प्रबन्धक की हैसियत से काम करने के बदले में जो २५ रुबल मेरे पास भेजे थे उन सबको मिला कर यों ही फुटकर ग़रीब लोगो में तक़सीम कर दिया। मैं समझ ही न सका कि उन रुबलों का इसके सिवा मैं और क्या उपयोग करूँ !

इस प्रकार इस कार्य का अन्त हुआ। मास्को छोड़ कर गाँव जाने से पहले, मेरे पास जो ३७ रुबल जमा थे उन्हें ग़रीबों में बाँट देने के विचार से एक दिन रविवार को मैं ज़िनोफ़्-गृह गया। मैं परिचित स्थानों में सभी जगह घूम आया; किन्तु मुझे एक ही अपाहिज आदमी मिला कि जिसे मैंने, मैं समझता हूँ, ५ रुबल दिये। मुझे ऐसा और कोई नहीं मिला कि जिसे मैं कुछ देता। इसमें सन्देह नहीं कि मुझसे माँगी तो कई लोगों ने, किन्तु चूँकि मैं उन्हें जानता नहीं था इसलिए मैंने यह उचित समझा कि बाक़ी ३२ रुबल वितरण करने के सम्बन्ध में होटल के मालिक आइवन फिडोटिच से सलाह ले लूँ।

वह त्योहार का दिन था। सभी लोग अच्छे कपड़े पहने हुए थे। खाने को भी खूब था। और कुछ लोग तो पीकर मस्त हो रहे थे। मैदान में घर के कोने के पास पुराने कपड़े खरीदने-वाला एक बुड्ढा आदमी खड़ा था, जो किसानों का-सा फटा हुआ कोट और छाल के जूते पहने हुए था। वह हृष्ट-पुष्ट और तन्दुरुस्त था। अपने कपड़ों को छाँटकर, लोहे की तथा चमड़े आदि की चीज़ों की अलहदा-अलहदा ढेरी बना रहा था और प्रसन्न होकर ऊँचे स्वर से एक गीत गा रहा था।

मैं उससे बातें करने लगा। उसकी अवस्था ७० वर्ष की थी। उसके कोई बन्धु-बान्धव न थे। पुराने कपड़ों का व्यापार करके वह अपनी रोजी कमाता था। उसे किसी प्रकार की शिकायत तो थी ही नहीं, उलटे उसका कहना था कि ईश्वर की कृपा से उसके पास खाने-पीने को काफी है—बल्कि कुछ बच रहता है। मैंने उससे पूछा कि यहाँ कोई ग़रीब आदमी भी है? वह कुछ बिगड़ा और स्पष्टवादितापूर्वक बोला—काहिल और शराबी आदमियों के सिवा ग़रीब और कौन होगा? किन्तु जब उसने मेरे पूछने का मतलब जान पाया, तब तो वह भी प्याली चढ़ाने के लिए पाँच कोपक माँगने लगा और उन्हे पाते ही होटल की तरफ दौड़ गया।

पीछे से मैं भी बाक़ी रक़म को बँटवा देने के लिए आइवन फ़िडोटिच के पास होटल में गया। होटल खूब भरा हुआ था, लड़कियों का झुंड का झुंड बन ठन कर इधर-उधर घूम रहा था, सारी मेज़ें भरी हुई थीं। कई लोग तो शराब पीकर मस्त हो रहे थे और छोटे-से कमरे में कोई हारमोनियम बजा रहा था और

दो जने नाच रहे थे। मेरे सम्मान में आइवन फ़िडोटिच ने नाच-गान वन्द कर देने का हुक्म दिया और एक ख़ाली मेज़ के पास मेरे साथ वैठ गया। मैंने कहा कि तुम अपने सभी किरायेदारों को जानते हो, इसलिए तुम बता सकते हो कि उनमें सबसे ज्यादा ग़रीब कौन है? ग़रीबों में बाँट देने के लिए मुझे एक छोटी-सी रक़म मिली है। उस दयालु मनुष्य ने (एक वर्ष पीछे उसकी मृत्यु हो गई) काम में लगे हुए होने पर भी मेरी ख़ातिर थोड़ी देर के लिए ग्राहकों को छोड़ कर मेरे काम में मदद दी। वह वड़े ध्यान से इस विषय मे सोचने लगा और उसकी मुद्रा से स्पष्ट होता था कि वड़ा परेशान है। एक पुराने नौकर ने हमारी वातचीत सुन ली थी, इसलिए वह भी इस चर्चा में शरीक हो गया।

वह एक-एक करके अपने यहाँ रहनेवालों का नाम ले गये, जिनमें से कुछ से मैं भी परिचित था, किन्तु कोई जँचा नहीं।

'परम नौवना' नौकर ने याद दिलाई।

'हाँ, ठीक है। कभी-कभी उसे भूखा पड़ा रहना पड़ता है। किन्तु वह शराव बहुत पीती है।'

'तो क्या हुआ ?'

'लेकिन हाँ, स्विडन आइवनोविच ? उसके वच्चे भी हैं। यह ठीक है।'

किन्तु आइवन फिडोटिच को आइवनोविच के सम्वन्ध में कुछ शंका थी।

'अकुलीना ? किन्तु उसे तो पेन्शन मिलती है। किन्तु हाँ, याद आई, वह वुड्ढा आदमी !'

किन्तु उसके लिए खुद मैंने आपत्ति की। मैंने उसे अभी हाल ही में देखा था। यह बुड्ढा अस्सी वर्ष का था, सगा-सम्बन्धी उसके कोई न था।। इससे अधिक दीन अवस्था की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु मैंने उसे अभी देखा था। परों के बिछौने पर वह शराब पिये हुए पड़ा था और अपेक्षाकृत छोटी उम्र की स्त्री उसके पास थी, जिसे वह वहाँ गन्दी वाहियात गालियाँ दे रहा था।

तब उन्होंने एक हाथवाले बालक और उसकी माँ का ज़िक्र किया। मैंने देखा कि आइवन फिडोटिच अपनी ईमानदारी के कारण बड़ी मुश्किल में पड़ गया है, क्योंकि वह जानता था कि जो कुछ दिया जायगा वह अन्त में जाकर उसके होटल में ही आयगा। किन्तु मुझे तो ३२ रुबल बाँटने थे, इसलिए मैंने ज़ोर देकर जिस किसी तरह उनके लिए आदमी खोज लिये। जिन लोगों को वे रुपये दिये गये, वे प्रायः अच्छे कपड़े पहने हुए थे, और उन्हें ढूँढ़ने के लिए हमें दूर भी नहीं जाना पड़ा। वे सब वहीं होटल में मौजूद थे। बिना हाथवाला लड़का जब आया तो वह बढ़िया बूट, लाल क़मीज़ और एक वास्कट पहने हुए था।

इस प्रकार मेरी परोपकार-वृत्ति की यह आयोजना समाप्त हुई। सभीसे नाराज़ होकर, तथा दूसरों पर अपने दिल का गुबार निकालते हुए, मैं गाँव चला गया। जब कभी कोई आदमी मूर्खता-पूर्ण तथा हानिकारक कार्य करता है तो सदा ही ऐसा होता है कि दूसरों को भला-बुरा कहकर जी का गुबार निका-लता है। मेरे इस कार्य का कोई भी फल न निकला। किन्तु

मेरे दिल में इस कार्य से जो भाव तथा विचार जागृत हो गये थे वे बन्द न हुए, बल्कि द्विगुणित वेग से वे मेरे मन को आन्दोलित करने लगे।

१२

किन्तु इस सबका अर्थ क्या है ?

मैं गाँव में रहता था, इसलिए ग़रीबों के साथ मेरा सम्बन्ध हो गया था। झूठी नम्रता के लिए नहीं, प्रत्युत् अपनी भावनाओं तथा विचार-लहरी को ठीक-ठीक हृदयङ्गम कराने के लिए यह कहना आवश्यक है कि गाँव में ग़रीबों के लिए मैंने बहुत ही थोड़ा काम किया और ग़रीब लोग मुझसे जो सहायता चाहते थे वही वास्तव में बहुत थोड़ी थी। किन्तु मैंने जो अत्यल्प अकिञ्चन सेवा की थी वह भी उपयोगी सिद्ध हुई, और उसके द्वारा मेरे और मेरे पास-पड़ोस में रहनेवाले लोगों के बीच में प्रेम और सहानुभूति का वातावरण पैदा हो गया था और मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि इन लोगों के मध्य में रहकर विलासी जीवन के अनौचित्य से जो अन्तरात्मा में एक प्रकार की वेदना-सी उठती थी उसको भी शान्त कर देना बहुत-कुछ सम्भव है।

मैंने सोचा था कि शहर के ग़रीब लोगों से भी मेरा वैसा ही सुन्दर सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। किन्तु वहाँ की तो परिस्थिति ही बिलकुल भिन्न थी। शहर की ग़रीबी में सत्य का अंश तो कम था, किन्तु ग्राम्य दरिद्रता की अपेक्षा वह अधिक श्रम-साध्य तथा कटुता-पूर्ण थी। नागरिक दरिद्रता का जो भयानक असर मेरे दिल पर पड़ा, उसका ख़ास कारण यह था कि ढेर की ढेर दरिद्रता एक ही स्थल में एकत्र हो गई थी। ल्यापिन-गृह

में जो कुछ मैंने देखा उससे मुझे मालूम पड़ने लगा कि मेरा यह विलासी जीवन एक महाभयानक बुराई है। किन्तु यह समझते हुए भी मैं अपने जीवन में वह क्रान्ति करने में सर्वथा असमर्थ था कि जिससे जीवन-शैली एकदम ही उलट-पुलट देनी पड़ती। इस परिवर्तन का विचार करके ही मैं भयभीत हो उठता था। इसीलिए मैंने मध्य-मार्ग को ग्रहण किया। लोगों ने जो मुझे सलाह दी, और वास्तव में आदि काल से लोग जो कहते चले आये हैं, मैंने उसी बात को मान लिया। मैंने इस बात पर विश्वास कर लिया कि धन-वैभव तथा सुख-पूर्ण जीवन में कोई बुराई नहीं है, ये तो ईश्वर की दी हुई चीजें हैं। और सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी ग़रीबों को सहायता पहुँचाना सम्भव है। इस बात पर विश्वास करके इसीके अनुसार व्यवहार करने का मैंने निश्चय किया, और एक लेख लिखकर ग़रीबों की सहायता करने के लिए मैंने धनिकों का आह्वान किया। सभी धनिको ने इस बात को तो स्वीकार किया कि ग़रीबों को सहायता देना उनका नैतिक कर्तव्य है, किन्तु किसीने भी आगे बढ़कर कुछ काम करने अथवा दान देने का नाम नहीं लिया! शायद उनकी इच्छा न थी, अथवा ऐसा करने की उनकी शक्ति न थी।

मैं ग़रीब लोगों से मिलने के लिए उनके घर जाने लगा, और वहाँ जो कुछ मैंने देखा उसके देखने की तो मुझे आशा ही न थी। जिन घरों को मैं अँधेरी कोठरी कहता था उनमें मैंने ऐसे लोगों को देखा कि जिन्हें सहायता पहुँचाना मेरे लिए असम्भव था। क्योंकि वे मेहनत-मजदूरी करने वाले लोग थे, जो

परिश्रम करने और भूख-प्यास सहने के अभ्यस्त होते हैं। और इसीलिए मेरी अपेक्षा उनका जीवन अधिक प्रौढ़ भित्ति पर स्थित था। वहाँ एक दूसरे प्रकार के लोग भी थे, जो बड़ी ही दुःखी दशा में थे; उनको भी मैं कोई सहायता न पहुँचा सकता था। क्योंकि वे भी बिलकुल मेरी ही जैसी स्थिति में थे। अधिकांश ग़रीबों की जो दुर्दशा मैंने देखी उसका कारण सिर्फ यह था कि वे अपनी रोज़ी कमाने की शक्ति, इच्छा और आदत को खो बैठे थे। अर्थात् जैसा मैं आलसी और अकर्मण्य हूँ वैसे ही वे भी बन गये थे, और इसीलिए उनकी ऐसी दीन दशा भी थी।

भूखों मरती अगाफिया के सिवा ऐसा तो एक भी आदमी नहीं मिला कि जो रोग, शीत अथवा भूख से नितान्त पीड़ित हो, और जिसे तत्क्षण सहायता पहुँचाई जा सके। और मुझे तो निश्चय हो गया कि मैं जिन लोगों को सहायता पहुँचाना चाहता हूँ उनके जीवन से जबतक मैं अलग-अलग रहता हूँ, जबतक उनके अन्तस्तल में बैठकर उनकी वेदना को, उनकी आवश्यकता को, समझने की चेष्टा नहीं करता, तबतक उनके दुःखों को दूर कर देना मेरे लिए लगभग असम्भव है। इनपर जब कोई दुःख या आपत्ति आती है तब ये दुखी जीव आपस में ही एक दूसरे के दुःखों का निवारण करने का यत्न करते हैं। और अब तो यह मेरा मूल सिद्धान्त-सा बन गया था कि ये लोग जो दुःखमय पतित जीवन व्यतीत कर रहे हैं उसको पैसा देकर तो कभी सुधारा ही नहीं जा सकता।

इन सब बातों का मुझे विश्वास तो हो गया था, किन्तु जो काम उठाया था उसे यों ही अधूरा छोड़ने में लज्जा लगती थी

और चूँकि मैं अपनी शक्तियों और गुणों के सम्बन्ध में धोखे में पड़ा हुआ था, इसलिए मैंने अपनी उस योजना को जारी ही रक्खा, जबतक कि वह खुद ही स्वाभाविक मृत्यु की गोद में लीन न हो गई। इस तरह बड़ी मुश्किल से और आइवन फ़िडोटिच की सहायता से मैं उन्हीं रुबलों को, जिन्हे मैं अपना न समझता था, ज़िनोफ़-गृह के होटल में लोगों को बाँटने में समर्थ हुआ था।

यदि मैं चाहता तो इसे धार्मिक कार्य का रूप देकर आगे चला सकता था। चाहता तो जिन लोगों ने चन्दा देने का वचन दिया था उनसे उतना रुपया वसूल कर लेता और कुछ और भी धन एकत्र करके बाँट सकता था; और इस प्रकार अपने मन को यह समझा कर कि मैंने भले आदमी की तरह भला काम किया है, अपनी आत्मा को सन्तोष दे लेता। किन्तु मुझे विश्वास हो गया कि हम धनिक लोगों में अपने धन का थोड़ा-सा भाग ग़रीबों को बाँट देने की इच्छा तथा प्रवृत्ति ही नहीं, और शायद ऐसा करने की शक्ति भी नहीं है। (क्योंकि हमारी अपनी ही आवश्यकतायें बहुत बढ़ी हुई हैं) और दूसरे, यदि हम लोगों का सचमुच ही भला करना चाहते हैं, तो ज़िनोफ़ गृह में जिस तरह हमने इधर-उधर पैसे वितरण कर दिये थे उस तरह किसी को न देना चाहिए। इसलिए मैंने उस कार्य को बिलकुल ही बन्द कर दिया, और निराश तथा दुःखित होकर गाँव चला गया।

मैंने सोचा, गाँव जाकर एक लेख लिखूँगा, जिसमें और अनुभवों का उल्लेख करते हुए यह दिखलाऊँगा कि मेरी योजना असफल क्यों हुई। मनुष्य-गणना-सम्बन्धी लेख पर जो लोगों ने अनेक आक्षेप किये थे, उनका निराकरण करते हुए अपने पक्ष को

सत्यता सिद्ध करूँगा और इसके साथ ही मेरा विचार था कि इस सम्बन्ध में समाज की जो हृदय-हीन उपेक्षा-वृत्ति है उस-पर भी कटाक्ष करूँगा। शहर की दरिद्रता के कारणों और उसको दूर करने के उपायों का भी उल्लेख करने की मेरी इच्छा थी। इस लेख को मैंने लिखना प्रारम्भ भी कर दिया। मैं समझता था कि मुझे कई महत्व-पूर्ण बातें प्रकाशित करनी हैं। किन्तु जब मैं लिखने लगा, तो मुझसे लिखा ही न गया। मैंने अपने दिमाग़ पर बहुत जोर दिया और मेरे पास सामग्री भी बहुत क़ाफी थी। किन्तु मेरी मनःस्थिति क्षुब्ध होने के कारण थे, और इस समस्या को ठीक तरह समझने की अनुभव-जन्य शक्ति का अभाव भी था। और खास कर इसलिए कि इस दीन अवस्था का कारण, जो कि वास्तव में मेरे ही अन्दर बद्ध-मूल था, सरल और स्पष्ट होते हुए भी अभी तक मेरे हृदयंगम न हुआ था। मैं उस लेख को आगे न चला सका। फलतः प्रस्तुत वर्ष के आरम्भ तक वह लेख समाप्त न हो सका।

धार्मिक तथा नैतिक बातों के सम्बन्ध में एक अजीब बात दिखाई पड़ती है, जिसपर लोग इतना ध्यान नहीं देते। यदि मैं किसी अशिक्षित मनुष्य से भू-गर्भ-विद्या, ज्योतिष, इतिहास, पदार्थ-विद्या तथा गणित के सम्बन्ध में बातें करूँ, तो वह उन्हें बिलकुल नवीन समझता है और कभी यह नहीं कहता—"यह तो पुरानी बात है, इसमें नवीनता क्या है?" किन्तु यदि किसी उच्च से उच्च कोटि के नैतिक सिद्धान्त की अत्यन्त सुन्दर और अपूर्व व्यवस्था भी की जाय, तब भी प्रत्येक साधारण मनुष्य, जो कि नैतिक बातों में कोई रस नहीं लेता है, और ख़ासकर वह मनुष्य कि जो उन्हें पसन्द नहीं करता है, तुरन्त ही कहने लगेगा—अजी,

यह कौन नहीं जानता ? आदि काल से सभी ऐसा कहते आये हैं। और मजा तो यह है कि वह वास्तव में ऐसा ही विश्वास करता है। नैतिक सिद्धान्तों की जिन्हें परख है, जो उनकी क़ीमत जानते हैं, वही समझ सकते हैं कि वे कितने महँगे और बहु-मूल्य हैं। कितने परिश्रम और अध्यवसाय के बाद कोई मनुष्य किसी नैतिक सिद्धान्त को विशद तथा बुद्धिगम्य रूप में प्राप्त करने में समर्थ होता है। और वास्तव में वही अनुभव कर सकते हैं कि किस प्रकार किसी अस्पष्ट धुँधले अनुमान तथा अनभिव्यक्त इच्छा में से धीरे-धीरे विकसित तथा विस्फूर्त होते हुए कोई तत्त्व अन्ततः सुस्पष्ट स्थिर अविचल सिद्धान्त के रूप को प्राप्त होता है, कि जो तदनुसार मनुष्य को अपने आचरण में परिवर्तन करने के लिए अबाध्य रूप से आह्वान करता है।

हम लोगों को ऐसा समझ लेने की कुछ आदत-सी पड़ गई है कि नैतिक सिद्धान्त बहुत ही तुच्छ और नीरस होते हैं कि जिनमें नवीन ज्ञान देनेवाली अथवा रस लेने योग्य कोई बात हो ही नहीं सकती। किन्तु वस्तुतः बात तो यह है कि मानव-जीवन की राजनीति, विज्ञान, कला-कौशल आदि की जो विभिन्न जटिल क्रियायें हैं कि जिनका धर्म तथा नीति से कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता, उनका वास्तव में इसके सिवा और कोई उद्देश्य ही नहीं कि वे अपने-अपने अनुभव से नैतिक सिद्धान्तों की पुष्टि करें तथा नई-नई तरह से उनकी व्याख्या करके उन्हें लोगों के समझने योग्य बनावें। नई बातों से नैतिक सिद्धान्तो की पुष्टि की जा सकती है पर

मुझे याद है कि एक बार जब मैं मास्को की एक गली में जा रहा था मैंने देखा कि एक आदमी दूकान से उतरा और

 १ नैतिक सिद्धान्तो मे कोई नवीनता अनुभव नहीं होती

पत्थरों को ग़ौर से देखने लगा; फिर उनमें से एक को चुन कर उसपर बैठ गया और उसे खूब जोर-जोर से घिसने तथा खुरचने लगा। मैंने दिल ही दिल में कहा—यह आदमी इस पत्थर का क्या कर रहा है? किन्तु जब मैं नज़दीक आया तो देखा कि वह आदमी क़साई की दूकान से उतरा है और सड़क के पत्थर पर छुरी को पैना रहा है। माँस काटने के लिए उसका छुरी पैनाना जरूरी था, किन्तु मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि वह पत्थर का कुछ कर रहा है।

इसी तरह मनुष्य-जाति व्यापार, युद्ध, सुलह, विज्ञान, कला आदि में व्यस्त दिखाई पड़ती है; किन्तु फिर भी इन सबमें केवल एक ही बात महत्व-पूर्ण है, और लोग उसीका सम्पादन करते हैं। इन सब प्रवृत्तियो द्वारा वे उन नैतिक सूत्रों का पता लगाते हैं कि जिनके अनुसार वे जीवन-यापन करते हैं। नैतिक सिद्धान्तों का अस्तित्व सदा से हैं, मानव-जाति उनका आविष्कार नहीं करती—केवल अपने अनुभव और अध्यवसाय से उन्हें ढूँढ निकालती है और नये रूप से उनको व्याख्या करतो है। यह व्याक्या उस मनुष्य को महत्व-पूर्ण नहीं मालूम पड़ती कि जिसे नैतिक सिद्धान्तों की जरूरत नहीं है और जो उसके अनुसार जीवन-यापन नहीं करना चाहता। किन्तु समस्त मनुष्य-जाति का यह मुख्य कर्म ही नहीं बल्कि एकमात्र यही उसका काम है। भोंटी तथा पैनी छुरी के भेद की तरह नैतिक सिद्धान्तों की विस्मृति भी अदृश्य होती है। छुरी तो सदा ही छुरी है। जिसे उससे कुछ काटना नहीं है, उसके लिए भोंटी तथा पैनी छुरी एकसी है। वह उसके भेद को जान नहीं सकता। किन्तु

जो समझता है कि छुरी के भोंटी अथवा पैनी होने पर ही उसका जीवन अवलम्बित है, उसके लिए उसका प्रत्येक घर्षण महत्व-पूर्ण है। वह जानता है कि छुरी को इस तरह पैनाने का अन्त ही नहीं हो सकता और छुरी उसी हालत में छुरी है कि जब वह पैनी है और जिस चीज को काटना है उसे वह काटती है।

मैं जब लेख लिखने बैठा तो मेरी भी यही दशा हुई। ल्यापिन-गृह के दृश्य से जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा, और उससे जो प्रश्न उदय हुए, उनके सम्बन्ध में मैंने समझा कि मैं सब कुछ जानता हूँ। किन्तु जब मैंने मन ही मन उन प्रश्नों का स्पष्टी-करण करना चाहा तो मालूम पड़ा कि छुरी भोंटी है, उसे पैनाना होगा। आज दो-तीन वर्ष के बाद मुझे कुछ ऐसा भास होता है कि अब मेरी छुरी में इतनी धार है कि मुझे जो काटना है उसे वह काट सकती है। मैंने कोई नया ज्ञान प्राप्त किया हो, सो बात नहीं है। मेरे सारे विचार जैसे थे वैसे ही हैं, पर पहले वे धुँधले और अस्पष्ट थे, उन्हें एक जगह केन्द्रीभूत करना कठिन था, वे तुरन्त ही इधर-उधर बहक जाते थे, उनमें दम नहीं था, और आज जिस प्रकार सरल निश्छल निश्चय को पहुँचा हूँ वैसा पहले असम्भव-सा प्रतीत होता था।

१३

मुझे याद है कि नगर के दरिद्र लोगों की सहायता करने के निष्फल आयोजन के समय मुझे सदा ही ऐसा मालूम होता था कि जैसे मैं स्वयं दलदली ज़मीन पर खड़ा होकर दलदल में फँसे हुए मनुष्य को खींचकर बाहर निकालने की चेष्टा कर रहा हूँ। उसके निकालने के प्रत्येक प्रयत्न पर मुझे यह अनुभव होता कि जिस ज़मीन पर मैं खड़ा हूँ वह स्वयं कितनी अस्थिर है। मुझे ऐसा भास तो हुआ कि मैं खुद दलदल पर खड़ा हूँ, किन्तु फिर भी मैंने अपने पैरों-तले की ज़मीन की जाँच-पड़ताल नहीं की; बल्कि यह समझ कर कि सारे दुःखों का कारण मेरे से बाहर है, मैं दुःखों के निवारणार्थ किसी बाह्य साधन की ही खोज में सारे समय लगा रहा।

मुझे ऐसा लगता था कि मेरा जीवन खराब है, लोगों का इस प्रकार जीवन व्यतीत करना ठीक नहीं। किन्तु फिर भी इस धारणा से तो सरल और प्रत्यक्ष सिद्धान्त निकलता है कि दूसरों के जीवन का सुधार किस तरह किया जाय। इसको समझने के लिए पहले अपने जीवन को सुधारना अनिवार्य और आवश्यक है। इस सरल स्वाभाविक सिद्धान्त को मैंने नहीं पहचाना। और इसीलिए मैंने जो काम प्रारम्भ किया उसका ढङ्ग कुछ उलटा-सा था। मैं नगर में रहता था और वहाँ के निवासियों के जीवन को सुधारना चाहता था। किन्तु शीघ्र ही मुझे विश्वास हो गया कि यह

काम करने की शक्ति मुझमें नहीं है और तब मैं नागरिक जीवन और नगर की दरिद्रता की ख़ासियत पर विचार करने लगा।

"यह नागरिक जीवन तथा नागरिक दरिद्रता क्या चीज़ है? शहर में रहते हुए भी क्या मैं शहर के ग़रीब लोगों की मदद नहीं कर सकता?"—मैंने मन में यह प्रश्न किया। मेरे मन ने उत्तर दिया कि इनके लिए मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इसका एक कारण तो यह है कि एक ही स्थल पर ऐसे लोग ढेर के ढेर इकट्ठे हो गये हैं; और दूसरी बात यह है कि इस शहर के ग़रीब, गाँव के ग़रीबों से, कुछ विभिन्न प्रकार के हैं। ये लोग इकट्ठे कैसे हुए होंगे? और गाँव के ग़रीबों से विभिन्न ये किस बात में होंगे? इन दोनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है। यहाँ जो ये लोग इतनी बड़ी संख्या में एकत्र हुए हैं, इसका कारण यह है कि गाँव में जिन लोगों की गुज़र का कोई साधन न रहा वे सब यहाँ आकर नगर के धनिकों के चारों ओर इकट्ठे हो गये। इनकी विशेषता यह है कि ये सब के सब गाँव छोड़-छोड़ कर गुज़र-बसर के लिए शहर में एकत्र हुए हैं। (ऐसे ग़रीब कि जिनका जन्म शहर में ही हुआ है और जिनके बाप-दादा भी शहर में ही पैदा हुए, उनके पूर्वज पूर्वकाल में आजीविका के लिए शहर में आये होंगे।)

'शहर में रोज़ी कमाना'—इसका क्या अर्थ है? इस वाक्य में कुछ विचित्रता सी मालूम पड़ती है और जब हम उसपर गहरा विचार करते हैं तो यह बात एक मज़ाक-सी मालूम पड़ती है। ये लोग गाँव छोड़ कर जहाँ जंगल हैं, खेत हैं, अनाज है, पशु हैं, जहाँ भूमि की उर्वरता से उपार्जित समस्त वैभव

है, उस स्थान को छोड़ कर, रोज़ी कमाने के लिए शहर में जाते हैं कि जहाँ इस प्रकार की कोई भी सुविधा नहीं है, केवल धूल और पत्थर भरे हैं। फिर भला शहर में रोज़ी कमाने का क्या मतलब हो सकता है?

यह वाक्य नौकर और मालिक दोनों सदा ही व्यवहार में लाते हैं, जैसे कि यह बिलकुल स्पष्ट और बुद्धि-गम्य हो। सैकड़ों और हज़ारों मनुष्यों से, जो सुख से अथवा तंगी से रहते थे, मैंने शहर में आने के सम्बन्ध में चर्चा चलाई और मुझे याद है कि बिना किसी अपवाद के सभी ने कहा कि रोज़ी कमाने के लिए गाँव से यहाँ आये हैं। मास्को में खेती-बाड़ी न होते हुए भी बहुत धन है, और यहाँ वह धन मिल सकता है कि जिसकी गाँव में अनाज, मकान, घोड़े और जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक सामग्री ख़रीदने में जरूरत पड़ती है।

किन्तु वास्तव में ग्राम ही समस्त सम्पत्ति का मूल है। अनाज, लकड़ी, घोड़े और अन्य आवश्यक चीज़ें सभी गाँव में ही होती हैं। फिर जो गाँव में है उसे लेने के लिए शहर में क्यों जाया जाय? और सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि जिन चीज़ों को ग्रामों में आवश्यकता है उनको ग्रामों में से ले जाकर शहरों में क्यों इकट्ठा किया जाय—जैसे आटा, जौ, घोड़े और पशु?

शहर में रहनेवाले किसानों से मैंने सैकड़ों बार इस विषय पर बातचीत की है और उनकी बातचीत से तथा अपने अवलोकन से मुझे स्पष्ट होगया कि गाँव के लोग शहरों में आकर रहें, यह कुछ अंशों में आवश्यक है: क्योंकि इसके बिना उनको

गुज़र नहीं हो सकती, और कुछ स्वेच्छा से भी नागरिक जीवन के प्रलोभनों में फँसकर वहां आते हैं।

ग्रामवासियों तथा किसानों के सिर पर जो ख़र्च आ पड़ते हैं उनकी वजह से अपना अनाज तथा बैल आदि, यह समझते हुए भी कि उनके विना काम चल नहीं सकता, उन्हें बेचने ही पड़ते हैं; और इसके बाद फिर अन्न और बैल आदि ख़रीदने के लिए इच्छा न होते हुए भी उन्हें नगर की ओर जाना पड़ता है। ग्राम-वासियों की ऐसी स्थिति है, यह सच है। किन्तु यह भी सच है कि गाँव की अपेक्षा कम मेहनत की कमाई तथा भोग-विलास से वे शहरों की ओर आकर्षित होते हैं और रोज़ी कमाने के बहाने वे शहरों में इसलिए जाते हैं कि वहाँ मेहनत कम करनी पड़ती है, अच्छा खाने को मिलता है, दिन में तीन बार चाय पीने को मिलती है, अच्छे कपड़े पहने जाते हैं और शराब का चस्का लगकर स्वच्छन्द वृत्ति का भी अवसर मिलता है।

इस परिस्थिति का कारण यह है कि धन, पैदा करनेवाले किसानो के हाथ से निकल कर, दूसरों के हाथ में चला जाता है और नगरों में जाकर एकत्र होता है। जब सर्दी का मौसम आता है तो गाँव धन से छलकते हुए दिखाई पड़ते हैं, किन्तु तुरन्त ही तरह-तरह के खर्चे सामने आ खड़े होते हैं—लगान, किराया, फौजी कर, उसके बाद मदिरा, विवाह, भोज, बिसाती आदि तरह-तरह के मोह-जाल आ उपस्थित होते हैं। इस प्रकार एक न एक द्वार से यह सारा धन—भेड़, बकरी, बछड़े, गाय, घोड़े, मुर्गे, मुर्गी, मक्खन, सन, कपास, जौ, गेहूँ तथा कपास के सब बीज किन्हीं अनजान आदमियों के हाथ में चले जाते हैं, जो उन्हें

शहरों में और शहरों से राजधानी में ले जाकर इकट्ठा करते हैं। ग्रामवासी को अपना खर्चा चलाने के लिए और शहर के प्रलोभनों के लिए यह सब कुछ बेच देना पड़ता है और फिर जब जरूरत पड़ती है तो उसे शहर में जाना पड़ता है; कि जहाँ उसका सारा धन खींच कर ले जाया गया है। वहाँ वह गाँव की खास-ख़ास जरूरतों को पूरा करने के लिए पैसा इकट्ठा करने का प्रयत्न करता है. और इस तरह नगर के प्रलोभनों में फँस कर अपने दूसरे साथियों के साथ एकत्र हुए धन का उपभोग करता है।

सारे रूस में, और मैं समझता हूँ कि केवल रूस में ही नहीं बल्कि संसार भर में, ऐसा ही होता है। गाँववालों का धन व्यापारी, जमींदार, सरकारी अफसर और कारखानेवालों के हाथ में चला जाता है। जो लोग इस धन को प्राप्त करते हैं, वे उसका उपभोग भी करना चाहते हैं; और उसका ठीक-ठीक उपभोग करने के लिए उन्हें शहर में ही बसना चाहिए।

एक बात तो यह है कि गाँव छोटे होने के कारण अमीर अपनी सारी इच्छायें तृप्त नहीं कर सकते; क्योंकि वहाँ न तो बड़ी दूकानें होती हैं, न बैंक, न होटल-थियेटर, तथा न तरह-तरह के मनोरंजन के सामान ही होते हैं। दूसरी बात यह कि धन से मिलनेवाला ख़ास सुख जो अभिमान है, दूसरों से बढ़ कर रहने की, दूसरों को अपनी शान-शौकत से चकित कर देने की जो तृष्णा होती है, वह थोड़ी बस्ती होने के कारण गाँव में पूरी नहीं की जा सकती। गाँव में भोग-विलास का रस लेनेवाले तथा उसे देख कर चकित तथा प्रसन्न होनेवाले लोग नहीं होते। गाँव में रह कर कोई कितना ही अपने घर को सजाये, कितने

ही चित्र तथा मूर्तियाँ लाकर रक्खे, कितने ही गाड़ी-घोड़े खरीदे, और चाहे कितनी ही शौकीनी से रहे, वहाँ उन्हें देख कर प्रसन्न होनेवाले तथा ईर्ष्या से जलनेवाले कोई ही मिलेंगे; क्योंकि ग्रामवासी इन बातों से अनभिज्ञ होते हैं। तीसरी बात यह है कि गाँव में विलासिता सहृदय मनुष्य के लिए अरुचिकर होती है और कच्चे दिलवाले के लिए चिन्ता का कारण भी हो उठती है। पड़ोसी के बच्चों को तो पीने के लिए भी दूध नसीब न हो और हम दूध से नहायें और कुत्तों को पिलायें, यह बड़ा ही भद्दा और लज्जाजनक प्रतीत होता है। इसी तरह ग़रीब आदमियों के पास रहकर, कि जिनके पास रहने के लिए टूटे-फूटे झोंपड़ों के सिवाय और कुछ नहीं होता और लकड़ी न मिलने के कारण जाड़े से ठिठुरते रहते हैं, ऊँचे-ऊँचे महल तथा बग़ीचे बनाना भी अच्छा नहीं लगता।

यदि कोई मूर्ख अशिक्षित गँवार आदमी हमारे शौक़ की चीज़ों को आकर तोड़-फोड़ डाले तो उसे गाँव में रोकनेवाला कौन है?

इसी कारण सारा धनिक वर्ग शहरों में जाकर बस जाता है, और अपनी ही जैसी वासनाओं वाले धनाढ्यों के पास रहना पसन्द करता है कि जहाँ तरह-तरह के भोग-विलास स्वच्छन्दता-पूर्वक निर्द्वन्द्व होकर भोगे जा सकते हैं। क्योंकि वहाँ इन लोगों की रक्षा के लिए बहुत-सी पुलिस नियत होती है, शहर में खास तौर पर रहनेवाले सरकारी कर्मचारी होते हैं, और उनके चारों ओर धनी-मानी, व्यापारी तथा कला-कौशलवाले लोग इकट्ठे हो जाते हैं। शहर में किसी चीज़ की इच्छा करने भर की देर है और वह धनी पुरुष के लिए तैयार है। धनी पुरुष को इसलिए

भी शहर में रहना अच्छा लगता है कि वहाँ उसके अभिमान को पोषण मिलता है, क्योंकि वहाँ भोग-विलास में दूसरों के साथ दौड़ की जा सकती है, अपने वैभव से उन्हें चकित और पराजित भी किया जा सकता है। अमीर लोगों के शहर में रहने का एक ख़ास कारण यह भी है कि गाँव में उनका जीवन इतना सुखमय नहीं हो सकता; अपने वैभव के कारण उन्हें भय भी लगा रहता है; पर अब यहाँ भय तो दरकिनार, आस-पास के दूसरे लोग जिस प्रकार शान के साथ रहते हैं, उसी प्रकार यदि न रहा जाय तो उलटा बुरा लगे। गाँव में जो भय-जनक था और भद्दा सा मालूम पड़ता था, वही यहाँ आवश्यक और अनिवार्य दिखाई पड़ता है।

अमीर लोग शहरों में एकत्र होते हैं, और अधिकारियों के संरक्षण में रह कर गाँव से जो कुछ आता है, आनन्द-पूर्वक उसका उपभोग करते हैं। गाँववाले नगर के धनाढ्यों के निरन्तर उत्सवों और भोजों से आकर्षित होकर कुछ बचा खुचा मिल जाने की आशा से वहाँ जाते हैं, और धनिकों का चिन्ता-रहित, बिना मेहनत का आनन्दमय जीवन जब वे देखते हैं, और देखते हैं कि प्रायः सभी उसे अच्छा समझते हैं, तो कभी-कभी उनके मन में भी यह इच्छा जागृत होना स्वाभाविक ही है कि हम भी कमसे कम परिमाण में काम करके दूसरों की मेहनत से अधिक से अधिक लाभ जिस प्रकार उठाया जा सके वैसा जीवन व्यतीत करें। आख़िरकार वह धनी लोगों के पास ही ठहरने का निश्चय कर लेता है, और अपनी आवश्यक चीज़ों को उनसे प्राप्त करने की हर तरह चेष्टा करता है, और उसके

बदले में अमीर लोग जो-जो शर्तें पेश करते हैं उन्हें मान कर वह उनका आश्रित बन जाता है। उनकी सब प्रकार की विषय-वासनाओं को तृप्त करने में मदद देता है, स्नान-गृहों में, होटलों में, कोचवान और वेश्या के रूप में ये गाँव के स्त्री-पुरुष इनकी सेवा करते हैं। ये लोग गाड़ियाँ, खिलौने और कपड़े आदि बनाते हैं और धीरे-धीरे अपने धनी पड़ोसियों की भाँति रहना सीख जाते हैं, जिसमें वास्तविक मेहनत तो नहीं करनी पड़ती किन्तु तरह-तरह की चालाकियों से दूसरों का इकट्ठा किया हुआ धन उन्हें फुसला कर हरण कर लेते हैं और इस प्रकार वे भ्रष्ट-चरित्र होकर नष्ट हो जाते हैं। शहर के धन से बिगड़े हुए यही लोग हैं कि जो शहर की दरिद्रता का कारण है, और जिन्हें सुधारने के लिए ही मैंने यह आयोजन रचा था, पर सफल न हुआ।

गाँव के ये लोग जो अन्न ख़रीदने के लिए अथवा कर चुकाने के वास्ते शहर में पैसा कमाने की दृष्टि से आते हैं, उनकी स्थिति पर यदि ज़रा विचार करें तो बस है। वे देखते हैं कि हज़ारों रुपया बड़ी ही बेपर्वाही से लोग उड़ा देते हैं, और सैकड़ों रुपया आसानी से कमाया भी जा सकता है, जब कि गाँव में सख्त से सख्त मेहनत करने पर कहीं जाकर एक पैसा मिलता है। यह सब देखते हुए यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि अब भी बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो मेहनत-मज़दूरी करके रोज़ी कमाते हैं और व्यापार करके, भीख माँग कर, व्यभिचार और बदमाशी-द्वारा तथा चोरी और लूट-मार करके सरलता-पूर्वक धन कमाने की ओर नहीं झुक गये हैं।

नगरों में आनन्द-प्रमोद की जो निरन्तर रेल-पेल मची हुई है, उसमें भाग लेने के कारण ही हमारी वृत्ति अजीब बन जाती है। हमें इसमें कोई विचित्र बात नहीं मालूम होती है कि एक मनुष्य अपने लिए बड़े-बड़े पाँच कमरे रक्खे, और उनको गरम रखने के लिए इतनी लकड़ी जलाये कि जिसमें २० परिवारों का भोजन बन सके और उनके घर गरमाये जा सकें। हमें यदि आध मील जाना हो तो दो घोड़ों की बढ़िया गाड़ी चाहिए, और उसके साथ दो साईस भी होने चाहिएँ। अपने बेल-बूटेदार फ़र्श को ग़लीचों से ढकते हैं और नाच-गान की एक-एक मजलिस में पाँच से दस हज़ार रुपया तक लगा देते हैं। बड़े दिन के पेड़ के लिए २५ रुबल खर्च कर डालते हैं, और इसी प्रकार के अन्य अन्धाधुन्ध खर्च करते हैं। हमें ये बातें भले ही अस्वाभाविक न मालूम हों, किन्तु जिस आदमी को अपने कुटुम्ब का पेट भरने के लिए १० रुपये की ज़रूरत है, या लगान के लिए बहुत मेहनत करके भी ७ रुपये न बचा सकने के कारण जिसकी अन्तिम भेड़ छीन ली गई हो, वह आदमी तो कभी इस भयङ्कर फ़िज़ूलखर्ची को समझ ही नहीं सकता।

हम लोग समझते हैं कि ग़रीब लोगों को ये बातें बिलकुल स्वाभाविक मालूम होती होंगी। और कुछ तो ऐसे हज़रत हैं कि जो यह कहते हुए भी नहीं हिचकते कि हमारे राग-रंग से ग़रीबों का भला होता है—उन्हें इससे रोज़ी मिलती है। किन्तु ग़रीब होने से उन्हें बुद्धि न हो, यह बात तो नहीं है। वे भी ठीक हमारी ही तरह विचार करते हैं। जब हम सुनते हैं कि किसी ने जुए में अपनी सम्पत्ति नष्ट कर दी या दस-बीस हज़ार रुपये गँवा

दिये, तो तुरन्त हमारे मन में ख़याल आता है कि यह आदमी कैसा मूर्ख है, मुफ़्त में इतने सारे रुपये बरबाद कर दिये ! यदि मेरे पास इतनी रक़म होती तो उसका कितना सदुपयोग करता ! मैं मकान बनवाता या जायदाद की तरक़्क़ी में उसे ख़र्च करता।

हमें व्यर्थ ही अपनी दौलत को नष्ट करते हुए देखकर ग़रीब लोगों के दिल में भी उसी प्रकार का विचार उठता है, बल्कि उनके मन में यह विचार और भी ज़ोर के साथ उठता है। क्योकि आमोद-प्रमोद के लिए नहीं किन्तु जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताओं को जुटाने के लिए उन्हें इस धन की ज़रूरत है। इस प्रकार की विचारशक्ति रखते हुए भी ग़रीब लोग अपने चारों ओर फैली हुई विलासिता को उदासीनता और उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, ऐसा समझ लेना भ्रमात्मक है।

यह बात तो इन्होंने कभी स्वीकार ही नहीं की, और स्वीकार कर भी नहीं सकते, कि एक वर्ग तो मज़े उड़ाये और दूसरा वर्ग भरपूर मेहनत करते हुए भी भूखों मरे। यह स्थिति इनको अच्छी लग ही नहीं सकती। पहले तो यह सब देखकर इन लोगों को आश्चर्य होता है, और बुरा भी मालूम होता है; किन्तु अधिक संसर्ग में आने से वे समझते हैं कि यह व्यवस्था तो उचित समझी जाती है तब वे भी मेहनत-मजदूरी से पिंड छुड़ाकर इस राग-रङ्ग में भाग लेने का प्रयत्न करते हैं। उनमें से कितने ही सफल हो जाते हैं और मज़े उड़ाने में मग्न हो जाते हैं, कितनों ही को यह स्थिति प्राप्त करने में देर लगती है, और कितने ही इच्छित स्थिति को प्राप्त करने से पहले ही थक जाते हैं। किन्तु

मेहनत-मजदूरी का अभ्यास छूट जाने से वे बदमाशी तथा वेश्या-वृत्ति का आश्रय लेते हैं।

दो वर्ष पहले एक किसान के बालक को अस्तबल में काम करने के लिए हम लाये। अस्तबल के दारोगा के साथ उसने झगड़ा किया। इसलिए थोड़े दिनों में उसे अलहदा कर दिया। वह एक व्यापारी के यहाँ नौकर होगया और उसका कृपा-पात्र बन कर आज सुन्दर कोट पहनता है, सोने की चैनवाली घड़ी रखता है और चमकते हुए बूट पहनता है। इसी लड़के की जगह हमने दूसरे किसान को नौकर रक्खा। वह विवाहित था। वह जुआ खेलने गया और रुपया हार आया। हमने तीसरा आदमी नौकर रक्खा। उसको शराब पीने की लत पड़ गई और उसके पास जो कुछ था वह सब उड़ा देने के बाद वह बहुत दिनों तक एक अनाथावास में पड़ा रहा। हमारा पुराना रसोई बनानेवाला शहर में आकर शराब पीने लगा और बीमार पड़ गया। हमारा साईस पहले बहुत शराब पीता था, किन्तु पाँच वर्ष तक गाँव में रह कर उसने शराब को छुआ भी नहीं; मगर जब वह अपनी स्त्री को छोड़ कर कि जो उसकी देख भाल रखती थी, मास्को में आया. तब वह फिर पीने लगा और उसने अपना जीवन दुःखमय बना लिया। हमारे गाँव का एक छोटा लड़का मेरे भाई के बटलर के हाथ के नीचे है। उसका अन्धा और बुड्ढा दादा, जब मैं गाँव में रहता था, तब, मेरे पास आया और कहने लगा कि किसी तरह मेरे पोते को समझा दो कि वह लगान अदा करने के लिए दस रूबल भेज दे, क्योंकि ऐसा न हुआ तो गाय बेचनी पड़ेगी'

उस वृद्ध ने यह भी कहा 'वह लड़का कहा करता है कि

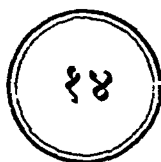
उसे भले आदमियों के-से कपड़े पहनने पड़ते हैं, जिसमें बहुत खर्च हो जाता है। उसने बड़े बूट खरीद लिये हैं। इतना ही बहुत है, किन्तु मैं तो समझता हूँ कि वह अब घड़ी खरीदने की धुन में है।'

वृद्ध ने ये बातें इस ढंग से कहीं कि जिससे मालूम पड़ता था कि उसकी दृष्टि में घड़ी खरीदने से बढ़कर फ़िजूलखर्ची तथा मूर्खतापूर्ण बात कोई हो ही नहीं सकती, और उस बेचारे का खयाल ठीक भी था। इस वृद्ध को शीत-काल भर जरा भी घी या तेल खाने को नहीं मिला, और अब उसका सारा ईंधन नष्ट हुआ जा रहा है; क्योंकि, उसे कटाने के लिए सवा रुबल की जरूरत है, जो उसके पास नहीं है। वृद्ध ने जो बात व्यंग के रूप में कही थी, वह निकली भी सत्य। वह लड़का एक सुन्दर काला ओवरकोट और आठ रुपयेवाले बूट पहन कर मेरे पास आया। कल ही मेरे भाई से दस रुपये लेकर उसने बूटों में खर्च कर दिये। मेरे बच्चे इस लड़के को बचपन से जानते थे। उन्होंने मुझसे कहा—इस लड़के को घड़ी की तो बड़ी जरूरत है। यह है बड़ा अच्छा, पर यह समझता है कि यदि मेरे पास घड़ी न होगी तो लोग मुझपर हँसेंगे। इसलिए घड़ी तो इसे चाहिए ही।

इस वर्ष १८ वर्ष की एक दासी का कोचमैन के साथ अनुचित सम्बन्ध हो गया और उसे छुट्टी दे दी गई। जब मैंने अपनी बूढ़ी धाय से यह बात कही तो उसने मुझे एक दूसरी लड़की की याद दिलाई, जिसे मैं भूल गया था। दस वर्ष पहले जब हम मास्को में रहते थे, यह लड़की हमारे यहाँ नौकर थी। वहीं वह साईस की मुहब्बत में फँस गई। उसे भी विदा कर दिया गया था और आखिरकार वह वेश्या-वृत्ति करने लगी। बीस वर्ष की भी

वह होने न पाई कि घृणित रोग से पीड़ित होकर वह अस्पताल में मर गई। हमारे भोग-विलास के लिए जो मिल और कारखाने खुले हैं, उनमें जो हो रहा है, उसे एक ओर छोड़ कर, हम अपने चारों ओर स्वतः अपनी विलासिता के कारण जो अनीति की भयङ्कर वला फैला रहे हैं उसे यदि हम आँख उठा कर देखें तो हमारा हृदय दहले विना न रहे।

इस प्रकार जिस नागरिक दरिद्रता को दूर करने में मैं असमर्थ रहा, उसका मूल कारण मुझे मिल गया। मैंने देखा कि हम लोग गाँववालों के पास से उनकी जरूरत की चीजों को ला-लाकर जो शहरों में भरते हैं, यह इस दुर्दशा का पहला कारण है; और दूसरा कारण यह है कि इन नगरों में अपने भोग-विलास की खातिर इन एकत्र की हुई चीजों का अन्धाधुन्ध खर्च करके हम उन गाँववाले किसानों को वैभव के प्रलोभनों में फँसाकर उनका जीवन नष्ट करते हैं, जो अपना-अपना घर छोड़ शहर में उन चीजों के कुछ अंश को ले जाने के लिए आते हैं, जिन्हे हम गाँव में से उनसे छीन कर ले आये हैं।



एक दूसरे दृष्टि-कोण से विचार करने पर भी मैं उसी निर्णय पर पहुँचा। शहर के ग़रीबों के साथ इस बीच में मेरा जो संसर्ग हुआ, उसे स्मरण करने पर मुझे मालूम हुआ कि ग़रीब लोगों की मदद न कर सकने का एक कारण यह था कि इन लोगों ने मुझे अपनी सच्ची स्थिति से वञ्चित रखकर॰ झूठी बातें कहीं। ये लोग मुझे मनुष्य नहीं, एक प्रकार का साधन समझते थे। मैंने देखा कि मैं उनके साथ घनिष्ठ हार्दिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता, और शायद ऐसा करना जानता ही न था। किन्तु सचाई के बिना तो सहायता करना असम्भव था। भला किसी आदमी को सहायता किस प्रकार पहुँचाई जा सकती है, जबतक कि वह अपनी सारी परिस्थिति बता नहीं देता? पहले-पहल तो मैं इस बात का दोष ग़रीबों पर ही रखने लगा, क्योंकि दूसरों के मत्थे दोष मढ़ना सरल और स्वाभाविक है। किन्तु सुटेफ़ नाम के एक विचक्षण मनुष्य ने, जो उन दिनों मुझसे मिलने आया था और मेरे घर रहता था, एक ऐसी बात मुझसे कही कि जिससे मेरा सारा संशय मिट गया और मैं यह भी समझ गया कि मेरी निष्फलता का वास्तविक कारण क्या है।

मुझे याद है कि सुटेफ़ ने जब वे बातें कहीं थीं तब भी उनका मेरे दिल पर गहरा असर पड़ा था। किन्तु उन बातों का ठीक-ठीक और पूरा अर्थ मेरी समझ में आया कुछ दिनों बाद।

उन दिनों जब मैं आत्म-वञ्चना के चक्कर में पूरे तौर पर पड़ा हुआ था, मैं अपनी बहन के घर गया। सुटेफ़ भी वहीं था। मेरी बहन मेरी योजना के सम्बन्ध में मुझसे प्रश्न करने लगी।

मैं सब बातें उसे बता रहा था; और जैसा कि अक्सर होता है, जब किसी आदमी को अपने काम में पूरा विश्वास नहीं होता है तो वह खूब बना-बना करके उसका जिक्र करता है, ठीक वैसे ही मैं भी बड़े जोश और उत्साह के साथ विस्तारपूर्वक अपने काम का और उससे होनेवाले परिणामों का वर्णन करने लगा। मैं उसे बता रहा था कि मास्को में ग़रीबों की जो दशा हो रही है उसका हमें किस प्रकार खयाल रखना चाहिए और अनाथों तथा वृद्धो की किस तरह खबरगीरी रखनी चाहिए तथा गाँव के कंगाल लोगो को घर वापस भेजने तथा बिगड़े लोगों को सुधारने के साधन किस प्रकार जुटाने चाहिएँ।

मैंने अपनी बहन को समझाया कि यदि हम अपने कार्य में सफल हुए तो मास्को में एक भी ऐसा ग़रीब आदमी न होगा कि जिसे हम सहायता न पहुँचा सकें।

मेरी बहन ने मेरे विचारों से सहानुभूति प्रकट की। किन्तु मैं जब बातें कर रहा था तो कभी-कभी सुटेफ़ की ओर देखता जाता था। मैं उसके धार्मिक जीवन से परिचित था, और जानता था कि वह दान-सम्बन्धी बातों को कितना महत्व देता है। मुझे उससे सहानुभूति की आशा थी, और इसीलिए मैं इस ढङ्ग से बातें कर रहा था कि जिससे वह मेरी बातें समझ जाय। देखने को तो मैं अपनी बहन से बातें कर रहा था, पर वास्तव में मेरी बातों की गति अधिकतर उसीकी ओर थी।

क्या करें ?

वह काली भेड़ की खाल का कोट—जिसे किसान लोग घर में तथा बाहर पहना करते हैं—पहने हुए अचल और स्थिर भाव से बैठा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि वह हमारी बातें नहीं सुन रहा है बल्कि किसी और ही बात के ध्यान में है। बातें करते समय आँखों में जो एक प्रकार की चमक-सी आ जाती है, वह उसकी छोटी-छोटी आँखों में बिलकुल ही न थी; बल्कि ऐसा मालूम होता था कि उसकी दृष्टि किसी अन्तर-प्रदेश में विचरण कर रही है। जी भरकर बातें कर चुकने के बाद मैंने उसको सम्बोधित करके पूछा कि इस विषय में उसका क्या विचार है ?

उसने कहा—यह सब व्यर्थ है !

मैंने कहा—क्यों ?

विश्वासपूर्ण स्वर में वह बोला—यह सारी योजना खोखली है, इससे कोई लाभ न होगा।

'किन्तु लाभ होगा क्यों नहीं ? यदि हम सैकड़ों-हजारों दुखी मनुष्यों को सहायता पहुँचाएँ, तो इसे व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है ? नंगे को कपड़ा देना और भूखे को भोजन कराना क्या धर्मशास्त्र की दृष्टि से बुरा है ?'

सुटेफ़ ने कहा—यह सब मैं समझता हूँ, किन्तु तुम जो कुछ कर रहे हो वह वैसा नहीं है। क्या इस प्रकार सहायता देना सम्भव है ? सड़क पर जाते हुए तुमसे कोई पैसा माँगता है, तुम उसे दे देते हो। क्या यह दान है ? उसको आत्मा के कल्याण के लिए कुछ करो, उसे कुछ सिखाओ ! कुछ पैसे फेंक कर तुम अपने सिर से बला टालते हो। क्या यह भी दान में दान है ?

मैंने कहा—नहीं, हम यह नहीं कहते। हम पहले तो

उनकी आवश्यकताओं को मालूम करेंगे और फिर धन से अथवा काम करके उनकी सहायता करेंगे। ग़रीबों के लिए हम कुछ काम भी खोज निकालेंगे।

सुटेफ़ ने कहा—इस प्रकार उनकी कुछ भी सहायता न होगी।

मैं बोल उठा—तो क्या करें? क्या उन्हें भूखों मरने दें और शीत से ठिठुरने दें?

"मरने क्यों दें? ऐसे कुल कितने आदमी होंगे?"

"कितने आदमी होंगे? आप शायद जानते नहीं कि अकेले मास्को में बीस हज़ार आदमी हैं, जो शीत और भूख की व्याधि से पीड़ित हैं; और फिर सेन्टपीटर्सबर्ग तथा अन्य नगरों में कितने होंगे?"

वह मुस्कराया—सिर्फ़ बीस हज़ार! और रूस में कुल घर कितने होंगे? लगभग दस लाख तो होंगे ही।

"लेकिन इससे मतलब क्या है?"

"मतलब क्या है?" अबकी बार कुछ गर्मी से उसने कहा, और उसकी आँखें उत्साह से चमक उठीं, "हमें इन लोगों को अपने साथ मिला लेना चाहिए। मैं खुद अमीर आदमी नहीं हूँ। लेकिन दो आदमी अभी अपने पास रख लूँगा। तुमने अपने बावर्चीखाने में जो आदमी अभी रक्खा है मैंने उससे मेरे साथ चलने को कहा, किन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। यदि इससे दसगुने भी होते तब भी हम सबको अपने परिवारों में शामिल कर लेते। हम सब साथ मिलकर काम करेंगे। ये हम लोगों को काम करते हुए देखेंगे और जीवन-निर्वाह करने का ढङ्ग सीखेंगे। हम लोग साथ बैठ कर एक-सा भोजन करेंगे।

कभी मुझसे और कभी तुमसे दो अच्छे शब्द इन्हें सुनने को मिलेंगे। यह दान है, यह उपकार है। आपकी योजना से कोई लाभ नहीं।"

इन सीधे-सादे शब्दों से मैं प्रभावित हुआ। उसकी बात सच है, यह तो मानना ही पड़ा। पर उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसका कहना सच होने पर भी सम्भव है कि मेरी योजना से भी कुछ लाभ पहुँच सके; किन्तु ज्यों-ज्यों मेरा काम आगे बढ़ा और ग़रीब लोगों के संसर्ग में ज्यों-ज्यों मैं अधिक आया, त्यों-त्यों मुझे इन शब्दों की याद अधिकाधिक आने लगी और वे अधिक अर्थ-पूर्ण मालूम होने लगे।

मैं रोयेंदार क़ीमती कोट पहन कर निकलता हूँ, अथवा गाड़ी में बैठकर ऐसे आदमी के पास जाता हूँ, जिसके पास पहनने के लिए जूते भी नहीं हैं। वह देखता है कि मेरे घर की सजावट में हज़ारों रुपये ख़र्च होते हैं या बिना सोचे-विचारे मैं किसी को पाँच रुपये केवल मन की लहर के कारण दे डालता हूँ। इन बातों को वह देखता है और इनका उसके दिल पर असर पड़े बिना नहीं रह सकता। वह सोचता है और समझ जाता है कि मैं जो इतना खर्च करता हूँ या इस प्रकार लोगों को रुपये दे डालता हूँ, इसका कारण यह है कि मैंने बहुत-सा रुपया इकट्ठा कर लिया है, जो मैं किसी को देना नहीं चाहता और जो मैंने दूसरों से बेदर्दी से छीन लिया है। मेरे विषय में इसके सिवा उसका और क्या ख़याल हो सकता है कि मैं उन मनुष्यों में से हूँ, जो बहुत-सी ऐसी चीज़ों के मालिक बन बैठे हैं कि जो वास्तव में उसके पास होनी चाहिएँ। और मेरे प्रति इसके

ातिरिक्त उसकी और भावना हो ही क्या सकती है कि मैंने ासे तथा अन्य लोगों से जो रुपये ले लिये हैं, उनमें से जितने जेस प्रकार हो सकें, वह वापस लेने की इच्छा करे ?

मैं उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहता हूँ और शिका-त करता हूँ कि उसका व्यवहार उतना सच्चा नहीं है। किन्तु ाथ ही मैं उसके बिछौने पर बैठने से डरता हूँ कि कहीं कोई त का रोग न लग जाय, और उसे अपने कमरे में भी आने ना नहीं चाहता। यदि वह बेचारा अर्धनग्न अवस्था में मुझसे मलने आता है, तो उसे घण्टों इन्तजार करना पड़ता है; और स समय यदि उसे ड्योढ़ी में स्थान मिल गया तो यह उसका ौभाग्य है, नहीं तो बाहर सर्दी में खड़ा-खड़ा ठिठुरा करे ! और फर मैं कहता हूँ कि यह सब उसका दोष है कि मैं उसके साथ ात्मीयता स्थापित नहीं कर पाता, उसका हृदय साफ़ नहीं है।

कठोर से कठोर दिल वाले आदमी भी यदि पाँच प्रकार के कवानों को लेकर ऐसे मनुष्यों के मध्य में खाने को बैठें कि ो भूखों मर रहे हैं, या जिनके पास खाने को सूखी रोटी के सवा और कुछ नहीं, तो निस्सन्देह किसी का जी खाने को न रेगा, जब कि उसके चारों ओर भूखे लोग होंठ चाटते हुए खड़े ों। इसलिए आधा पेट भोजन करनेवाले लोगों के मध्य में हकर अच्छी तरह खाने के लिए यह जरूरी है कि हम अपने-ो उनकी दृष्टि से छिपा लें और इस प्रकार खायें कि जिससे वे ख न सकें; और सबसे पहले हम यही बात करते भी हैं।

मैंने निष्पक्ष होकर अपने जीवन की गति-विधि का अध्ययन कया तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि गरीब लोगों के साथ हमारे

सम्बन्ध का घनिष्ठ होना जो असम्भव-सा हो रहा है, यह केवल इत्तिफ़ाक़ की बात नहीं है; बल्कि हम खुद अपने जीवन को ऐसे ढङ्ग पर ढाल रहे हैं कि जिससे हमारा-उनका सम्पर्क असम्भव हो जाय। इतना ही नहीं, अपने जीवन को तथा धनी लोगों के जीवन को बाहर से देखने पर मैंने तो समझा कि हम लोग जिसे आनन्द या सुख समझते हैं, वह जहाँ तक हो सके इन ग़रीब लोगों से पृथक् होकर दूर रहने ही में है, अथवा किसी न किसी प्रकार इस वांछित पृथक्करण से सम्बन्धित है।

सच्ची बात यह है कि भोजन, पोशाक, मकान और सफ़ाई से लेकर शिक्षा तक हमारी जीवन-सम्बन्धी सभी बातों का उद्देश्य ही यह मालूम पड़ता है कि हमारे और ग़रीबों के बीच में दीवार खड़ी कर दी जाय और भेद-भाव तथा पृथक्करण की इस दुर्लंघ्य दीवार को खड़ी करने में हम अपने धन का ⁹⁄₁₀ हिस्सा ख़र्च करते हैं।

जब कोई आदमी धनवान हो जाता है तो सबसे पहला काम वह यह करता है कि वह दूसरों के साथ खाना छोड़ देता है। वह अपने तथा परिवार के लिए ख़ास भोजन बनवाता है, और अलहदा थालियाँ लगवाता है। वह अपने नौकरों को तो अच्छी तरह भोजन कराता है, ताकि उनके मुँह में पानी न भर आये, पर स्वयं अलहदा बैठ कर भोजन करता है। लेकिन अकेले खाना अच्छा नहीं लगता, इसलिए भोजन में यथासम्भव सुधार होता है और मेज़ को भी ख़ूब सजाया जाता है। ख़ुद खाने की पद्धति ही अभिमान और गौरव की बात हो जाती है, जैसा कि डिनर-पार्टियों में देखने में आता है। उसके भोजन करने की

पद्धति मानों उसे दूसरे लोगों से अलहदा करने का एक साधन है। किसी ग़रीब आदमी को भोज में निमंत्रित करना तो धनी आदमी के लिए बिलकुल अचिन्त्य बात है। भोज में सम्मिलित होने के लिए महिला को मेज़ तक पहुँचाने की, सलाम करने की, बैठने की, खाने की, हाथ-मुँह धोने की तमीज़ तो होनी ही चाहिए; और इन बातों को सिर्फ़ अमीर लोग ही ठीक तरह से करना जानते हैं।

पोशाक के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि कोई अमीर आदमी सादी पोशाक पहने तो शरीर को ढकने तथा शीत से सुरक्षित रखने के लिए उसे बहुत ही थोड़े कपड़ों की ज़रूरत हो, और यदि उसके पास दो कोट हों तो जिसके पास एक भी न हो उसे एक कोट दिये बिना उससे रहा ही न जाय। किन्तु अमीर आदमी ऐसी पोशाक पहनना शुरू करता है कि जिसमें बहुत-सी चीज़ें होती हैं, जो विशिष्ट समय पर ही पहनी जा सकती है, और इसलिए वह ग़रीब आदमी के मतलब की नहीं होती। फ़ैशनेबल आदमी के लिए शाम के पहनने के कोट, वेस्ट-कोट, फ्राककोट, पेटेन्ट लेदर बूट होने ही चाहिएँ। और उसकी स्त्री के पास भी ऊँची एड़ी के जूते, शिकारी और सफ़री जाकेट, बॉडिस और फ़ैशन के मुताबिक़ तरह-तरह की कई हिस्सों की बनी हुई पोशाकें अवश्य चाहिएँ। ये सब चीज़ें केवल उन्हींके काम आ सकती हैं कि जो दरिद्रता से बहुत दूर हैं। इस प्रकार हमारा पहरावा भी हमें जुदा करने का एक साधन हो जाता है; और फ़ैशन तो अमीरों को ग़रीबों से दूर रखने का एक प्रमुख कारण है ही।

यही बात हमारे मकानों से और भी स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। एक आदमी दस कमरों का उपयोग कर सके, इसके लिए हमें ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है कि वह ऐसे लोगों की दृष्टि से दूर रहे कि जो दस-दस की संख्या में एक कमरे में रहते हैं। जितना ही अधिक कोई आदमी धनवान् होता है, उस तक पहुँचना भी उतना ही कठिन होता है। उतने ही अधिक दरबान ग़रीब आदमियों को उसके पास न पहुँचने देने के लिए तैनात होते हैं, और किसी ग़रीब आदमी का आतिथ्य-सत्कार करना, उसे अपनी क़ालीनों पर चलने-फिरने तथा मख़मली कुर्सियों पर बैठने देना भी उसके लिए उतना ही अधिक असम्भव हो जाता है।

सफ़र में भी यही बात होती है। बैलगाड़ी में बैठकर जानेवाला वह किसान बड़ा ही कठोर-हृदय होगा कि जो राह चलते थके हुए बटोही को अपनी गाड़ी में बैठाने से इन्कार कर दे। उसकी गाड़ी में काफ़ी जगह होती है और वह आराम से उसे बैठा सकता है। किन्तु गाड़ी जितनी ही अधिक ठाठदार और अमीराना होगी, मालिक के सिवा किसी दूसरे आदमी को उसमें स्थान देना उतना ही अधिक असम्भव होगा। कुछ बहुत ही शानदार गाड़ियाँ तो इतनी तंग होती हैं कि उन्हें 'एकता' या 'एकवादी' कहा जा सकता है।

स्वच्छता शब्द से हम जिस प्रकार की जीवन-शैली की ओर निर्देश करते हैं, उसके सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। स्वच्छता !

उन मनुष्यों को, ख़ास कर उन स्त्रियों को कौन नहीं जानता कि जो प्रायः स्वच्छता की दुहाई दिया करते हैं ? स्वच्छता के

इन विभिन्न रूपों से भी कौन परिचित नहीं है? इनकी कोई सीमा ही नहीं है, जबतक कि ये दूसरों की मेहनत से प्राप्त होते हैं। स्वयं-निर्मित धनिकों में ऐसा कौन है, जिसने यह अनुभव न किया हो कि अपने को उस स्वच्छता का अभ्यस्त बनाने में कितनी परेशानी और तकलीफ़ उठानी पड़ती है, कि जो इस कहावत को चरितार्थ करती है—'उजले हाथों को दूसरों की मेहनत अच्छी लगती है।'

आज स्वच्छता इसमें है कि रोज़ कुर्ता बदला जाय, कल दिन में दो बार कुर्ते बदलने होंगे। पहले तो हाथ और मुँह धोना प्रति दिन आवश्यक होता है, फिर पैर भी रोज़ाना धोने होते हैं; और फिर सारा शरीर, और वह भी ख़ास ख़ास तरीक़ों से। एक साफ़ मेज़पोश दो दिन तक काम देता है, फिर वह रोज़ बदला जाता है, और उसके बाद दिन में दो-दो मेज़पोश बदले जाते हैं। आज तो इतना ही काफ़ी समझा जाता है कि अर्दली के हाथ साफ़ हों, पर कल उसे दस्ताने पहनने चाहिएँ और एक साफ़ तश्तरी में रखकर पत्र पेश करने चाहिएँ। इस स्वच्छता की कोई हद नहीं है और इसके सिवा इससे कोई लाभ नहीं है कि यह हमें दूसरे लोगों से जुदा कर दे, हालाँकि इस स्वच्छता के लिए हमें दूसरों ही की मेहनत पर निर्भर रहना पड़ता है।

इतना ही नहीं, मैंने जब इस बात पर गहरा विचार किया तो, मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि हम जिसे शिक्षा कहते हैं वह भी एक ऐसी ही चीज़ है। भाषा धोखा नहीं दे सकती, वह हरएक चीज़ को ठीक नाम से पुकारती है। फ़ैशनेबल पोशाक, चटपटी बातचीत, उजले हाथ और स्वच्छता की कुछ मात्रा—

बस, इसी को साधारण लोग शिक्षा कहते हैं। दूसरों से मुक़ाबला करते हुए जब वे उसकी विशेषता दिखाना चाहते हैं, तो कहते हैं कि वह शिक्षित मनुष्य है। इससे कुछ उच्च श्रेणी के लोगों में भी शिक्षा का यही अर्थ समझा जाता है। किन्तु उनमें ये बातें और जोड़ दी जाती हैं—पियानो बजाना, फ्रांसीसी भाषा का ज्ञान, रूसी भाषा का शुद्ध लेख और स्वच्छता की कुछ अधिक मात्रा। इससे भी ऊँची श्रेणी में शिक्षा के अन्दर ये सब बातें होती ही हैं और इनके अलावा अंग्रेज़ी शिक्षा-सम्बन्धी किसी ऊँची संस्था का सर्टीफ़िकेट और स्वच्छता की और भी अधिक मात्रा, इन बातों का भी समावेश समझा जाता है। किन्तु इन तीनों ही श्रेणियों में शिक्षा का स्वरूप एकसा ही है।

शिक्षा से मतलब है वह आचार और विभिन्न प्रकार का ज्ञान, जो मनुष्य को दूसरे मानव-बन्धुओं से पृथक् करता है। इसका भी वही उद्देश्य है कि जो स्वच्छता का है। अर्थात् हमें सर्व-साधारण लोगों से पृथक करना, जिससे भूखों मरते और शीत से ठिठुरते हुए लोग देख न सकें कि हम किस प्रकार मौज़ उड़ाते हैं। किन्तु हमारी ये बातें छिपी नहीं रह सकतीं, भेद खुल ही जाता है।

इस प्रकार मैं यह समझ गया कि हम अमीर लोग जो ग़रीबों की मदद करने में असमर्थ हैं, इसका कारण यह है कि हमारा उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होना अशक्य है, और यह बाधा हम स्वयं अपने धन तथा समस्त जीवन-चर्या के द्वारा खड़ी करते हैं। मुझे विश्वास हो गया कि हम अमीरों और ग़रीबों के बीच में हमारे ही द्वारा उठाई हुई शिक्षा और स्वच्छता की एक दीवार

खड़ी हुई है और उसका आविर्भाव हमारे धन के द्वारा हुआ है। ग़रीबों को सहायता पहुँचाने के योग्य होने के लिए हमें सबसे पहले इस दीवार को ही तोड़ना पड़ेगा और ऐसी परिस्थिति पैदा करनी होगी कि जिससे सुटेफ़ के बताये हुए प्रस्तावों को क्रियात्मक रूप दिया जा सके। अर्थात् ग़रीबों को हम अपने-अपने घरों में लेलें। जनता की दरिद्रता के सम्बन्ध में अपनी विचार-सरणि के द्वारा मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा, एक दूसरे दृष्टि-कोण से भी मैं इसी परिणाम पर आया—अर्थात् दरिद्रता का कारण हमारा धनाधिक्य है।

१५

फिर तीसरी बार और अबकी बिलकुल व्यक्तिगत दृष्टि से मैंने इस विषय पर विचार करना शुरू किया। मेरी उस परोपकारी-प्रवृत्ति के समय एक बात ने मेरे दिल पर बड़ा असर किया, और वह बात मालूम भी बड़ी विचित्र होती है, किन्तु बहुत दिनों तक मैं उसका मतलब नहीं समझ सका।

घर पर या बाहर जब कभी मैंने किसी ग़रीब आदमी को उससे किसी प्रकार की बातचीत किये बिना ही दो-चार पैसे दिये तो मैंने देखा, या यों कहिये कि मुझे ऐसा मालूम पड़ा, कि उसके मुख पर प्रसन्नता और कृतज्ञता के भाव झलक रहे हैं और इस प्रकार के दान से खुद मुझे भी एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता था। किन्तु जब कभी मैंने उसके साथ बातचीत का सिलसिला शुरू किया, और उसके भूत तथा वर्तमान जीवन के सम्बन्ध में थोड़ी-बहुत विस्तृत जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसको दो-चार या दस-बीस पैसे देकर चलता करना असम्भव है; तब मैं थैली में हाथ डालकर देर तक पैसों को टटोलता रहता और यह न समझकर कि कितना देना यथेष्ठ होगा, ऐसे अवसरों पर मैं सदा ही अधिक दिया करता था। किन्तु फिर भी मैं देखता कि वह ग़रीब असन्तुष्ट होकर मेरे पास से गया है। यदि मैं अधिक घनिष्ठता-पूर्वक उससे बातें करने लग जाता तो कितना दान दूँ, इस विषय

में मेरा सदेह और भी बढ़ जाता; और फिर ऐसी हालत में मैं चाहे कितना ही क्यों न दूँ, उपकृत व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक निराश और असन्तुष्ट दिखाई पड़ता था।

यह एक साधारण नियम-सा था कि जब कभी मैंने किसी ग़रीब आदमी से अच्छी तरह बातचीत करके उसे तीन रुपये या इससे भी कुछ अधिक दिया, तो मैंने सदा ही उसके चेहरे पर निराशा, असन्तोष और कभी-कभी क्रोध के भाव देखे; और कुछ अवसरों पर तो मुझसे १० रुपये पाने के बाद भी मुझे धन्यवाद दिये बिना ही वह इस प्रकार मेरे पास से उठकर गया कि जैसे मैंने उसका अपमान किया हो !

ऐसे अवसरो पर मुझे सदा ही लज्जा और दुःख का अनुभव होता और ऐसा मालूम होता, जैसे मैंने पाप किया हो। जब मैंने किसी ग़रीब आदमी की कुछ हफ्तों, महीनों या वर्षों तक देखभाल की, बातें कीं, अपने विचार उसके सामने प्रकट किये, और इस प्रकार कुछ घनिष्ठता हो गई, तो कुछ दिनों में हमारा सम्बन्ध बड़ा दुःखदायी-सा हो जाता और मैं देखता कि वह आदमी मुझसे घृणा करने लगा है और अन्तरात्मा में मुझे ऐसा भास होता कि उसका घृणा करना ठीक है। सड़क पर जाते हुए कोई भिखारी मुझसे एक पैसा माँगे और मैं उसे दे दूँ, तो उसकी दृष्टि में मैं भी उन दयालु नेक मनुष्यों में आ जाता हूँ, जो अन्य मनुष्यों की तरह एक-एक धागा देकर उसके लिए कुर्ता बनवा देते हैं। उस समय वह मुझसे अधिक की आशा नहीं रखता, सिर्फ एक धागा माँगता है—और वह जब मैं उसे दे

देता हूँ, तो वह हृदय से आशीर्वाद देता है। उस समय वह जानता है कि वह भिखारी है और मैं दाता हूँ।

किन्तु यदि मैं उसके पास ठहर कर मनुष्य के नाते भाई समझ कर उससे बातें करूँ और उसे यह मालूम हो कि मैं यों ही रस्ते चलनेवाला साधारण दाता नहीं हूँ, और यदि जैसा कि अक्सर होता है अपने दुख की कहानी वर्णन करते हुए वह रो उठे, तब वह मुझे इत्तफ़ाक़िया दान देनेवाला आदमी नहीं समझता बल्कि जैसा कि मैं चाहता हूँ वह मुझे एक दयालु सद्गृहस्थ समझता है; और जब मैं दयालु हूँ तो मेरी दयालुता २० पैसे या दस रुपये या दस हज़ार रुपये देकर भी ख़त्म नहीं हो सकती। दयालुता की कोई सीमा नहीं।

कल्पना कीजिए कि मैं उसे बहुत-सा धन दे देता हूँ, उसके लिए स्थान और वस्त्र का प्रबन्ध कर देता हूँ, और उसे इस योग्य बना देता हूँ कि वह आप अपने पैरों खड़ा होसके—बिना किसी की सहायता के खुद अपनी जीविका उपार्जन कर सके। किन्तु किसी न किसी कारण से, दैवी आपत्ति से अथवा अपनी दुर्बलता के कारण मैंने उसे जो कुछ दिया, वह सब गँवा बैठता है। न उसके पास रुपया रहता है, और न पहनने को कपड़ा। वह भूखों मरता तथा शीत से ठिठुरता है, और ऐसी हालत में वह फिर मेरे पास आता है; तो मैं सहायता देने से इन्कार कैसे करूँ! हाँ, यदि मेरी दयालुता का लक्ष्य यह होता कि मैं उसे कुछ रुपये दे दूँ और एक कोट बनादूँ, तो इतना कर चुकने के बाद मैं निश्चिन्त होकर बैठ सकता हूँ। किन्तु मेरे कार्य का लक्ष्य तो यह न था। मेरी कामना, मेरी इच्छा तो यह थी कि मैं दयालु पुरुष बनूँ, अर्थात्

सबमें अपनी आत्मा का अनुभव करूँ। दयालुता का अर्थ सभी ऐसा ही समझते हैं, और कुछ नहीं।

इसलिए ऐसा आदमी यदि शराब पीने में सब कुछ उड़ा दे, तुम उसे बीस बार दो और बीसों बार वह सब स्वाहा कर डाले और फिर भूखा का भूखा और नंगा का नंगा रह जाय, तो यदि तुम दयालु पुरुष हो तो उसे फिर रुपया दिये बिना नहीं रह सकते—और तुम अपना हाथ उस समय तक नहीं खींच सकते, जबतक कि तुम्हारे पास उससे अधिक सामग्री है। किन्तु यदि तुम हाथ खींच लेते हो, तो तुम यह सिद्ध करते हो कि अभी तक तुमने जो सहायता दी वह इसलिए नहीं दी कि वास्तव में तुम दयालु हो बल्कि इसलिए दी कि दूसरे लोगों तथा उस आदमी की दृष्टि में ऐसे मालूम पड़ो कि लोग तुम्हे दयालु समझें। और चूँकि ऐसे अवसरों पर मैं हाथ खींच लेता था, सहायता देना बन्द कर देता था, और इस प्रकार अपने करे-धरे पर पानी फेर देता था, इसीलिए मेरे हृदय में पीड़ाजनक लज्जा की भावना जागृत हो उठती थी।

पर यह भावना थी क्या ?

ल्यापिन-गृह तथा गाँव में जब ग़रीबों को रुपया या कोई दूसरी चीज़ मैं देता था, तब मैं इस अनुभूति का अनुभव करता था। शहर के ग़रीबों को देखने के लिए मैं जब जाता था, तब भी मुझे इसका अनुभव होता था। हाल ही में एक घटना हुई, जिसने इस लज्जा की भावना को जोरों के साथ मेरे सामने ला रक्खा और मैं उसका कारण खोज निकालने के लिए उत्सुक हुआ।

यह घटना गाँव में हुई। एक यात्री को देने के लिए मुझे

२० कोपकों (रूसी सिक्का) की जरूरत थी। किसीसे माँग लाने के लिए मैंने अपने पुत्र को भेजा। उसने कोपक लाकर उस यात्री को दिये और मुझसे कहा कि रसोइये से वे कोपक उधार लिये हैं। कुछ दिनों बाद दूसरे यात्री आये। मुझे फिर २० कोपक की जरूरत हुई। मेरे पास एक रुबल था। मुझे याद आया कि रसोइये को बीस कोपक देना है। यह सोच कर कि उसके पास और कोपक होंगे, मैं भोजनगृह में गया और उससे कहा—

"मुझे २० कोपक तुमको देने हैं। पहले यह लो एक रुबल।"

मैंने बोलना समाप्त भी न किया कि रसोइये ने अपनी स्त्री को पास के कमरे से बुलाकर कहा—पाशा, यह रुबल ले लो।

यह सोच कर कि मेरा मतलब यह समझ गई है, मैंने उसे रुबल दे दिया। यहाँ यह कह देना जरूरी है कि रसोइये को हमारे यहाँ रहते हुए एक हफ्ता हो गया था; मैंने उसकी स्त्री को देखा था, पर उससे कभी बात नहीं की थी।

बाक़ी वापस देने के लिए मैं उससे कहना ही चाहता था कि वह जल्दी से मेरे हाथ पर झुकी और यह समझ कर कि मैं यह रुबल उसे इनाम दे रहा हूँ, कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए वह मेरे हाथ को चूमने को उद्यत हुई। मैं कुछ गड़बड़ा कर रसोई-गृह से निकल भागा। मुझे बड़ी ही लज्जा मालूम हुई। ऐसी लज्जा मैंने बहुत दिनों से अनुभव नहीं की थी। मेरा शरीर उस समय काँप रहा था और मुँह सूख गया था। मानों लज्जा से कराहते हुए मैं वहाँ से भाग आया।

मैं समझता था कि इस भावना के मैं योग्य न था कि जो एकाएक आकर मेरे ऊपर सवार हो गई और जिसने मेरे ऊपर

गहरा असर किया। खासकर इसलिए कि बहुत दिनों से मुझे ऐसी अनुभूति न हुई थी, और इसलिए भी कि मैं समझता था कि मैं बड़ा आदमी हूँ, और इस प्रकार शान्तिपूर्वक अपने जीवन को व्यतीत कर रहा हूँ। मेरे लज्जित होने का कोई कारण ही न था। इस घटना से मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने अपनी स्त्री तथा अपने मित्रों से इसका जिक्र किया, और सभीने कहा कि यदि यह घटना उनके साथ होती तो उनका भी ऐसा ही हाल होता। मैं सोचने लगा—आखिर ऐसा हुआ क्यों ?

इसका उत्तर मास्को की एक घटना से मिला, जो कुछ दिन पहले मास्को में मेरे सामने हुई थी। मैंने इसके ऊपर विचार किया और रसोइये की स्त्री वाली बात पर जो लज्जा मुझे प्रतीत हुई उसका अर्थ मैं समझा। मैं समझा कि क्यों मास्को में परोपकार का कार्य करते हुए लज्जा की लहरें मेरे हृदय में दौड़ जाती थीं, जैसा कि पहले तथा अब भी होता है, जब कभी मैं फ़क़ीरों तथा यात्रियों को उस साधारण दान से कुछ अधिक देता हूँ कि जिसके देने की मुझे आदत है और जिसे मैं दान नहीं कहता, केवल सभ्यता और कुलीनता समझता हूँ। कोई आदमी दीया जलाने के लिए दीयासलाई माँगे और दीयासलाई तुम्हारे पास हो, तो तुम्हें अवश्य ही देनी चाहिए। यदि कोई आदमी २० या २५ कोपक या कुछ रुपये माँगता है और यदि तुम्हारे पास हैं, तो तुम्हें देना ही चाहिए। यह दान-पुण्य नहीं है। यह तो सभ्यता की बात है—शराफ़त का तकाज़ा है।

जिस घटना का मैंने उल्लेख किया है वह यह थी। मैं दो किसानों का जिक्र पीछे कर चुका हूँ, जिनके साथ तीन वर्ष पहले मैं

लकड़ियाँ चीरा करता था। एक दिन, रविवार की सायंकाल के झुरमुरे में, हम लोग शहर वापस आ रहे थे। वे लोग अपने मालिक के पास अपनी मजदूरी लेने जा रहे थे। ड्रैगोमिलर-पुल पार करने के बाद हमें एक बूढ़ा आदमी मिला। वह माँगने लगा। मैंने उसे २० कोपक दे दिये। मैंने ये कोपक यह सोच-कर दिये थे कि साइमन पर, जिसके साथ मैं धार्मिक प्रश्नों पर बातें कर रहा था, इसका कितना अच्छा असर पड़ेगा।

साइमन बाल्डमीर का रहनेवाला किसान था। उसके एक स्त्री और दो बच्चे मास्को में रहते थे। वह भी ठहरा और अँगरखे का बन्द खोल कर जेब में से अपनी थैली उसने निकाली और उस-पर नजर डालने के बाद तीन कोपक का एक सिक्का बाहर निकाल कर उसे बुड्ढे को दिया और दो कोपक वापस माँगने लगा। उस बुड्ढे आदमी ने अपना हाथ पसार दिया, जिसमें दो-तीन कोपक के सिक्के थे और अकेला एक कोपक। साइमन ने उनकी ओर देखा और उनमें से एक कोपक उठाना चाहा; किन्तु फिर विचार बदल कर अपनी टोपी उतार कर बुड्ढे को सलाम किया और फिर प्रार्थना के रूप में हाथ से क्रास का चिह्न बनाकर दो कोपक बूढ़े से लिये बिना ही वह चल दिया।

साइमन की आर्थिक अवस्था से मैं खूब परिचित था। उसके पास न तो घर था और न कोई दूसरी जायदाद। जब उसने बुड्ढे को तीन कोपक दिये तब उसके पास पाँच रुबल और पचास कोपक थे, जो उसने बचाकर रक्खे थे, और यही उसकी सारी पूँजी थी।

मेरी सम्पत्ति लगभग साठ लाख रुबल के होगी। मेरे एक

भी और दो बच्चे थे, सो साइमन के भी थे। वह मुझ से छोटा था। इसलिए उसके बच्चे संख्या में मुझसे कम थे, किन्तु उसके बच्चे छोटे थे और मेरे बच्चों से दो काफ़ी बड़े थे, काम करने लायक थे, और इस प्रकार सम्पत्ति के प्रश्न को छोड़ देने पर हमारी परिस्थितियाँ एक सी थीं, हालाँकि इस तरह भी मैं उससे अच्छा था।

उसने तीन कोपक दिये और मैंने बीस। अब देखिए कि हम दोनों के दान में क्या अन्तर था। जितना दान उसने किया था उतना दान करने के लिए मुझे कितना देना चाहिए था? उसके पास ६०० कोपक थे, इनमें से उसने एक कोपक दिया और फिर दो, और मेरे पास ६०,००,०० रूबल थे। साइमन के बराबर दान करने के लिए मुझे तीन हज़ार रूबल देने चाहिए थे, और उस आदमी से दो हज़ार रूबल वापस देने के लिए कहना था। यदि उसके पास फुटकर न होता तो यह दो हज़ार भी उसके पास छोड़कर क्रास बनाकर शान्तिपूर्वक वहाँ से चल देता और इस प्रकार की बातें करता जाता कि मिलों और कारखानों में लोग किस प्रकार रहते हैं और स्मालेन्स्क् मार्केट में चीज़ों की क्या कीमत है।

इस विषय पर उस समय मैंने ग़ौर किया, किन्तु इस घटना से जो अनिवार्य्य परिणाम निकलता है वह बहुत देर बाद मेरी समझ में आया। यह परिणाम गणित की तरह निस्सन्दिग्ध और शुद्ध होते हुए भी इतना असाधारण और विचित्र है कि उसको समझने में समय लगता है। आदमी के हृदय में यह भावना उठती है कि शायद इसमें कहीं कुछ ग़लती है, पर वास्तव में इसमें

ग़लती है नहीं। यह ग़लती का जो ख़याल हमें आता है, इसका कारण यह है कि हम लोग भ्रम के भयङ्कर अन्धकार में रहते हैं।

जब मैं उस परिणाम पर पहुँचा और मैंने उसकी अनिवार्यता को समझा, तब उस लज्जा का कारण मेरी समझ में आया कि जो रसोइये की स्त्री के समक्ष तथा दूसरे ग़रीबों को दान देते समय मुझे मालूम हुआ करती थी और अब भी होती है—जब कभी मैं उस प्रकार का दान देता हूँ। वास्तव में यह रुपया है क्या कि जो मैं ग़रीबों को देता हूँ और जिसे रसोइये की स्त्री ने समझा था कि मैं उसे दे रहा हूँ? मैं जो दान देता हूँ, वह प्रायः मेरी आय का इतना छोटा हिस्सा होता है कि साइमन तथा रसोइये की स्त्री यह नहीं समझ सकती कि वह मेरी सम्पत्ति का कितना अंश है—बहुधा करोड़वाँ हिस्सा या इसके लगभग होता होगा। मैं जो देता हूँ वह इतना थोड़ा होता है कि मेरा दान, दान या त्याग नहीं कहला सकता। यह तो गोया एक प्रकार का दिल-बहलाव है, और सच पूछिए तो रसोइये की स्त्री ने ऐसा ही समझा भी था। यदि राह-चलते किसी अजनबी को मैं एक रूबल या २० कोपक दे देता हूँ तो उसे भी एक रूबल क्यों नहीं दे सकता? उसके लिए रुपये का यह वितरण ऐसा ही है, जैसे कोई सद्गृहस्थ लोगों में रेवड़ियाँ बँटवावे। यह तो उन लोगों का मनोरंजन है कि जिनके पास बहुत-सा मुफ्त का पैसा है। रसोइये की स्त्री की भूल ने मुझे यह बात स्पष्ट रूप से बतला दी कि उसका तथा और ग़रीब लोगों का मेरे विषय में कैसा ख़याल है—यही कि मैं मुफ्त का पैसा लोगों में बाँटता फिरता हूँ; अर्थात् वह

पैसा कि जिसे मैंने मेहनत करके नहीं कमाया है। इसीलिए उस दिन मुझे लज्जा मालूम हुई थी।

वास्तव में यह रुपया है क्या और मुझे कैसे मिला? इसका एक हिस्सा तो मैंने लगान के रूप में जमा किया कि जिसे अदा करने के लिए बेचारे किसानों को अपनी गायें या भेंड़ें बेचनी पड़ीं। मेरे धन का दूसरा हिस्सा मेरी लिखी हुई पुस्तकों के द्वारा मुझे मिला। यदि मेरी पुस्तकें हानिकारक हैं और फिर भी बिक जाती हैं तो इसका कारण यही हो सकता है कि उनके अन्दर कोई दूषित प्रलोभन है; और इसलिए उन पुस्तकों से जो रुपया मुझे मिलता है वह बुरे रूप से पैदा किया हुआ रुपया है। किन्तु यदि मेरी पुस्तकें लाभकारी हैं तब तो और भी बुरी बात है। मैं अपनी पुस्तकें लिखकर वह ज्ञान लोगों को दान तो कर नहीं देता, बल्कि कहता हूँ—मुझे इतने रुपये दो तो मैं इसे तुम्हारे हाथ बेंच दूँगा।

लगान के लिए, जैसे किसान को अपनी भेड़-बकरी बेचनी पड़ती है, किताब के लिए ग़रीब विद्यार्थी तथा शिक्षक को भी वैसा ही करना पड़ता है। प्रत्येक ग़रीब आदमी को, जो किताब खरीदता है, मुझे रुपया देने के लिए कोई न कोई आवश्यक चीज़ छोड़ देनी पड़ती है। अब जब कि मैंने इतना रुपया कमा लिया है, तो मैं इसका क्या करूँ? मैं उसे शहर में ले जाता हूँ और ग़रीब आदमियों को देता हूँ। लेकिन तभी कि जब वे मेरी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, और शहर में आकर मेरे फ़र्श को, लैम्पों और जूतों को साफ़ करते हैं, मेरे कारखानों में काम करते हैं और इसी प्रकार की अन्य सेवायें। इन

रुपयों के द्वारा—जो मैं उन्हें देता हूँ—मुझे उनसे जो कुछ मिलता है सब ले लेता हूँ। मैं इस बात की कोशिश में रहता हूँ कि मैं उन्हें दूँ तो कम से कम, किन्तु ले लूँ वह सब, जितना कि लिया जा सकता हो।

ऐसा करने के बाद अब अचानक ही मैं यह रुपया मुफ़्त में ही ग़रीबों को देना शुरू करता हूँ, किन्तु, मैं सब को नहीं, जिसको इच्छा होती है उसीको देता हूँ। तब फिर क्यों न प्रत्येक ग़रीब आदमी यह आशा करे कि सम्भव है आज मेरी भी बारी आ जाय और मेरी भी उन लोगों में गणना हो कि जिनमें अपना 'मुफ़्त का रुपया' बाँटकर मैं अपना दिल बहलाता हूँ ?

बस, हरएक आदमी मुझे ऐसा ही समझता है कि जैसा रसोइये की स्त्री ने समझा था। किन्तु मैं तो यह समझ रहा था कि मैं जो एक हाथ से हज़ारों रुपये छीनकर दूसरे हाथ से अपनी पसन्द के लोगों के आगे कुछ कोपक फेंकता रहता हूँ, यह दान है - पुण्य है। तब इसमें क्या आश्चर्य कि मुझे लज्जा मालूम हुई ? किन्तु पेश्तर इसके कि मैं परोपकार करने के योग्य बनूँ मुझे इस बुराई को छोड़ देना होगा और अपने को ऐसी स्थिति में रखना होगा, कि जिसमें उस बुराई के पैदा होने का कारण न बनूँ। किन्तु मेरा तो सारा जीवन ही इस बुराई से परिपूर्ण है। यदि मैं १० लाख रुपये भी दे डालूँ, तब भी तो मैं परोपकार करने योग्य अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि फिर भी मेरे पास ५० लाख बाकी रह जायँगे।

थोड़ासा भी उपकार कर सकने के योग्य मैं तभी होऊँगा, जब कि मैं अपने पास कुछ भी न रक्खूँगा। उदाहरण के लिए

उस ग़रीब वेश्या को लीजिए कि जिसने तीन दिन तक एक बीमार की और उसके बच्चे की सेवा-शुश्रूषा की थी। किन्तु उस समय उसका वह काम मुझे कितना छोटा मालूम पड़ा? और मैं परोपकार करने की योजनायें गढ़ रहा था। उस समय की बस एक बात सत्य निकली, जिसका अनुभव पहले-पहल ल्यापिन-गृह के बाहर भूखे और सीत से ठिठुरते हुए लोगों को देखकर मुझे हुआ था—अर्थात् मैं ही इस पाप का भागी हूँ, और जिस प्रकार का जीवन मैं व्यतीत कर रहा हूँ वह असम्भव, बिलकुल असम्भव है। तब फिर हम क्या करें? अगर अब भी किसी को इसका उत्तर देने की आवश्यकता है, तो ईश्वर की आज्ञा से विस्तारपूर्वक मैं इसका उत्तर दूँगा।

१६

पहले तो इस बात को स्वीकार करना मुझे बड़ा कठिन मालूम हो रहा था, किन्तु जब इस सत्य का मुझे विश्वास हो गया तब यह सोचकर मैं भयभीत हो उठा कि अभी तक मैं कैसे भयङ्कर भ्रम में पड़ा हुआ था। मैं खुद सिर से लेकर पाँव तक दलदल में फँसा हुआ था, किन्तु फिर भी मैं दूसरों को दलदल से निकालने की चेष्टा कर रहा था!

वास्तव में मैं चाहता क्या हूँ? मैं परोपकार करना चाहता हूँ। मैं ऐसा उपाय ढूँढ निकालना चाहता हूँ कि कोई मानव-प्राणी भूखा और नंगा न रहे। मनुष्य, मनुष्य की तरह अपना जीवन व्यतीत कर सके। मैं चाहता तो यह हूँ, देखता हूँ, कि जुल्म और जबरदस्ती तथा तरह-तरह की तरकीबों-द्वारा, जिनमें मैं भी भाग लेता हूँ, ग़रीब मजदूरों से अत्यन्त आवश्यकता की चीजें भी छीन ली जा रही हैं, और श्रम न करने वाले अमीर लोग, जिनमें मेरी भी गणना है, दूसरों की मेहनत पर मौज उड़ाते हैं।

मैं देखता हूँ कि दूसरे लोगों की मेहनत के फल से लाभ उठाने का ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि जो मनुष्य जितना अधिक चालाक है, और उसके द्वारा अथवा उसके उन पूर्वजों के द्वारा कि जिनसे विरासत से उसे जायदाद मिली है, जितने ही अधिक छल-प्रपंच रचे जायँ, उतना ही अधिक वह दूसरों के श्रम का

उपयोग करके लाभ उठा सकता है और उसी परिणाम में वह खुद मेहनत करने से बच जाता है।

अमीर-उमरा-धनी-सराफ़, व्यापारी, बड़े-बड़े ज़मीन्दार, सरकारी अफ़सर पहले वर्ग में हैं। उनके बाद कुछ कम धनवाले बैंकर, व्यापारी और मेरे जैसे ज़मींदारों का नम्बर आता है। इनके बाद छोटे-छोटे दूकानदारों, होटलवालों, सूदखोरों, पुलिस-सारजण्टों, इन्स्पेक्टरों, शिक्षकों, पुरोहितों और लेखकों का नम्बर है। फिर दरबान, साईस, कोचमैन, भिश्ती, गाड़ी हाँकनेवाले तथा फेरी लगानेवाले बिसाती हैं; और तब कहीं सबसे अन्त में जाकर बारी आती है—मज़दूरों, कारखाने के काम करनेवालों और किसानों की, हालाँ कि इस वर्ग की संख्या अन्य वर्गों की अपेक्षा दसगुनी अधिक है।

इन श्रमजीवियों के नव-दशांश का जीवन ही ऐसा है कि जिसमें खूब मेहनत और मज़दूरी करनी पड़ती है। कोई भी स्वाभाविक जीवन ऐसा ही होता है—यह सच है। पर जिन तरकीबों से इन लोगों के पास से जीवन की अनिवार्य आवश्यताओं की सामग्री छीन ली जाती है, उनके कारण इन बेचारों का जीवन-निर्वाह प्रतिवर्ष अधिक कठिन और कष्टमय बनता जारहा है। इसके साथ ही हम लोगों का जीवन, कि जो किसी प्रकार का श्रम न करने से आलसीवर्ग कहा जा सकता है, कला और विज्ञान के सहयोग से प्रतिवर्ष अधिक आनन्दमय, आकर्षक और निश्चिन्त होता जा रहा है। इस कला तथा विज्ञान का लक्ष्य भी यही है कि हमारे जीवन को परिश्रमहीन और सुखमय बना दे।

मैं देखता हूँ कि आजकल मेहनत-मजदूरी करनेवालों का जीवन-विशेषतःइस वर्ग के बुड्ढों, बालकों और स्त्रियों का जीवन— दिन प्रति दिन बढ़ती हुई मेहनत और उसके परिणाम में उनको भोजनादि न मिलने के कारण बिलकुल नष्ट होता जा रहा है। अत्यन्त आवश्यक जीवनोपयोगी चीजें भी तो उन्हें नहीं मिलती हैं। साथ ही साथ मैं देखता हूँ कि मैं आलसी वर्ग का जीवन, कि जिसमें मैं भी सम्मलित हूँ, प्रतिवर्ष अधिकाधिक वैभव और विलास से परिपूर्ण तथा निश्चिन्त हो रहा है। धनी लोगों के जीवन की निश्चिन्तिता तो अब उस अवस्था को पहुँच गई है कि जिसका स्वप्न पुराने जमाने में लोग देव और परियों की कहानियों में देखा करते थे। उनकी दशा उस आदमी की सी है, जिसे ऐसी जादू की थैली मिल गई हो कि जिसमें धन कभी घटता ही नहीं। जीवन-रक्षा के निमित्त प्रत्येक मनुष्य के लिए श्रम करने का जो स्वाभाविक नियम है, उससे वे एक दम मुक्त हो गये हैं। सिर्फ़ इतना ही नहीं बल्कि बिना श्रम किये जीवन के समस्त सुखों का उपयोग करने में वे समर्थ हैं और अन्त में अपने बच्चों को अथवा जिस किसी को भी चाहें वे 'अक्षय निधि' वाली यह जादू की थैली विरासत में दे जा सकते हैं।

मजदूरों की मेहनत का फल उनके हाथ से निकलकर रोज़-रोज़ अधिकाधिक परिणाम में मेहनत न करनेवाले लोगों के हाथ में, चला जा रहा है। सामाजिक संगठन के पिरामिड का पुन र्निर्माण कुछ इस ढंग से किया जा रहा है कि अभीतक नींव में जो पत्थर लगे थे वे अब चोटी पर पहुँच रहे हैं और इस परिवर्तन का वेग दिन-दूना और रात-चौगुना होता जा रहा है।

चींटियाँ यदि अपने साधारण नियम को भूल जाँय, और उन-में से कुछ ऐसा करने लगें कि जिस मिट्टी को ला-लाकर बाँबी की नींव बनाई गई थी, उसी नींव की मिट्टी को उठाकर चोटी पर ले जाने लगें, और इस प्रकार नींव अधिकाधिक छोटी बनाते हुए शिखर को बड़ा बनावें और इस तरीक़े से नींव की चींटियों को चोटी पर पहुँचाने की चेष्टा करें, तो उस बाँबी का जो हाल होगा, मैं देखता हूँ, लगभग वैसा ही कुछ हमारे समाज के अन्दर भी हो रहा है।

मैं देखता हूँ, परिश्रमी जीवन के स्थान पर मनुष्यों ने अक्षय निधि वाली थैली का आदर्श अब अपने सामने रक्खा है। मैं और मेरे जैसे धनी लोग इस अक्षय निधि को प्राप्त करने के लिए तरह-तरह की तरकीबें करते हैं. और उसका उपभोग करने के लिए हम लोग शहरों में आ बसते हैं, जहाँ पैदा कुछ नहीं होता किन्तु सफ़ाया सब चीज़ों का अवश्य हो जाता है। अमीर लोगों को यह जादू की थैली मिल सके, इसके लिए गाँव का ग़रीब आदमी लूटा जाता है और वह ग़रीब निरुपाय होकर उनके पीछे दौड़ा हुआ शहर को आता है; और वह भी वैसी ही चालाकियों से काम लेता है, और ऐसा प्रबन्ध करता है, जिससे वह काम थोड़ा करता है और मज़े खूब उड़ाता है। (और इस प्रकार अन्य काम करनेवालों पर काम का और भी अधिक बोझ आ पड़ता है) या इस स्थिति को प्राप्त करने से पहले ही वह अपने को बरबाद करके क्षेत्रों में रहनेवाले नंगे और भूखे लोगों की लगातार तेज़ी से बढ़नेवाली संख्या में और एक आदमी की भरती करता है।

मैं उन लोगों में से हूँ, जो तरह-तरह की तरकीबों से मेहनत करनेवालों की आवश्यक जीवनोपयोगी चीज़ों को छीन लेते हैं और इस प्रकार अपने लिए जादू की अक्षय निधि तैयार करते हैं जो कि फिर ग़रीबों को प्रलोभनों में फँसाने का कारण होती है।

मैं लोगों की सहायता करना चाहता हूँ, इसलिए यह स्पष्ट है कि सबसे पहले एक ओर तो मुझे इन लोगों को लूटना बन्द कर देना चाहिए, जैसे कि मैं अब तक कर रहा हूँ, और दूसरी ओर उन्हें ललचानेवाली बातें न करनी चाहिएँ। किन्तु सदियों से प्रचलित, अत्यन्त गूढ़, चालाकियों से पूर्ण और दुष्ट तरकीबों-द्वारा मैं इस अक्षय निधि का मालिक बन बैठा हूँ। अर्थात् मैंने अपनी स्थिति ऐसी बना ली है कि कभी किसी प्रकार का श्रम किये बिना ही मैं सैकड़ों-हज़ारों मनुष्यों को अपना काम करने के लिए मजबूर कर सकता हूँ, और सच पूछिए तो अपने इस विचित्र अधिकार का मैं उपभोग भी कर रहा हूँ, किन्तु फिर भी मैं सदा यही समझता हूँ कि मैं इन दीन लोगों पर दया कर-के उन्हें सहायता पहुँचाने के लिए उत्सुक हूँ।

मैं एक आदमी की पीठ पर सवार हो गया हूँ और उसे असहाय तथा निर्बल बनाकर मजबूर करता हूँ, कि वह मुझे आगे ले चले। मैं उसके कन्धों पर बराबर सवार हूँ, फिर भी मैं अपने को तथा दूसरों को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस आदमी की दुर्दशा से मैं बहुत दुःखी हूँ और उसका दुःख दूर करने में मैं भरसक कुछ उठा न रक्खूँगा—किन्तु उसकी पीठ पर से मैं उतरूँगा नहीं।

बात बिलकुल स्पष्ट है। यदि मैं ग़रीबों की मदद करना

चाहता हूँ, अर्थात् चाहता हूँ कि ग़रीब लोग ग़रीब न रहें, तो मुझे लोगों को ग़रीब न बनाना चाहिए। फिर भी मैं बिगड़े हुए लोगों को बिना विचारे ही रुपया दे देता हूँ और जो लोग अभी बिगड़े नहीं हैं उनसे बीसों रुपया छीन लेता हूँ—इस प्रकार मैं लोगों को ग़रीब तो बनाता ही हूँ, साथ ही साथ उन्हें भ्रष्ट भी करता हूँ।

इतनी सीधी और सरल बात होते हुए भी उसका समझना पहले मेरे लिए बड़ा कठिन हो रहा था, और यदि मैं उसे मानता भी तो किसी न किसी रूप में मेरी स्थिति का समर्थन करनेवाले कारण मुझे अवश्य सूझ जाते। किन्तु जब एक बार मैं अपनी भूल को समझ गया तो पहले जो कुछ मुझे विचित्र, गूढ़, अस्पष्ट और अगम्य मालूम होता था, वही अब बिलकुल सरल और समझ में आने लायक़ मालूम होने लगा। खास बात तो यह थी कि यह व्याख्या जिस प्रकार का जीवन बनाने का सङ्केत करती थी वह जीवन अब मुझे एकदम सरल, स्पष्ट और मधुर मालूम होने लगा। पहले की तरह उलझन-भरा, गूढ़ और दुखदायी न मालूम पड़ता था।

लोगों की दशा का सुधार करने की इच्छा रखनेवाला मैं हूँ कौन? मैं दूसरों को सुधारना चाहता हूँ, फिर भी रात भर रोशनी से जगमगाते हुए कमरे में ताश खेलता हूँ, और फिर दो-पहर तक पड़ा सोता रहता हूँ। मैं, एक दुर्बल, पौरुषहीन मनुष्य—जिसको खुद अपनी सेवा के लिए सैकड़ों आदमियों की सहायता की ज़रूरत होती है—वही मैं, दूसरों को सहायता देने निकलता हूँ; और सहायता भी उन लोगों को, जो सवेरे पाँच बजे उठते हैं, ज़मीन पर सोते हैं, रूखी-सूखी रोटियाँ खाकर रह

जाते हैं और जो जोतना, बोना, लकड़ी काटना, कुल्हाड़ी में डंडा डालना, घोड़ों को जोतना और कपड़े सीना आदि कार्य करना जानते हैं और जो शक्ति में, दृढ़ता में कार्य-कुशलता और आत्म-संयम में मुझसे सैकड़ों दर्जे बढ़चढ़कर हैं। ऐसे लोगों को सुधारने का भार लिया था मैंने !

ऐसे लोगों के संसर्ग में आकर मैं लज्जित न होता तो और क्या होता ? उनमें सबसे अधिक दुर्बल एक शराबी है, जो जिनोफ़—गृह में रहता है और जिसे सब लोग 'ऐदी' या 'आलसी' कहते हैं। वह भी तो मेरी अपेक्षा कहीं अधिक मेहनती है। मैं लोगों से कितना लेता हूँ और बदले में कितना देता हूँ और वह दूसरों से कितना लेकर उन्हें कितना देता है, इस बात की यदि तुलना की जाय तो वह मुझ से हज़ारों दर्जे अच्छा निकलेगा। वह मेहनत करता है, कमाकर दुनिया को देता है और फिर भी अपने लिए बहुत थोड़ा ख़र्च करता है और मैं मेहनत तो बिलकुल नहीं करता, मगर दुनिया भर के भोग-विलासों का मैं मज़े से उपभोग करता हूँ।

ऐसा होने पर भी मैं ग़रीबों का सुधार करने का दम भरता हूँ। मगर हम दोनों में अधिक दीन कौन है ? मुझ से अधिक दीन और कोई न होगा। मैं एक अशक्त और नितान्त निकम्मा जीव हूँ, जो दूसरों का खून चूसता हूँ और बिलकुल खास-खास हालतों में ही जीवित रह सकता हूँ। जब हज़ारों आदमी मेहनत करें तभी यह जीवन टिक सकता है कि जो दूसरों के किसी भी मसरफ़ व मतलब का नहीं। वृक्ष के पत्तों को खा डालने वाला मैं एक कीड़ा हूँ। फिर भी मैं ऐसी इच्छा रखता हूँ कि मेरे

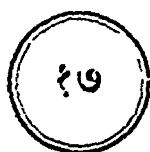
हायों उस वृक्ष का रोग दूर हो और वह खूब फूले-फले !

मैं अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता हूँ ? मैं खाता हूँ, बातें करता हूँ, बातें सुनता हूँ। मैं फिर खाता हूँ, लिखता हूँ या पढ़ता हूँ, जो बातें करने तथा सुनने का रूपान्तर-मात्र है। मैं फिर भोजन करने बैठता हूँ और खेलता हूँ। फिर खाता हूँ, बातें करता हूँ, सुनता हूँ और अन्त में खाकर सो जाता हूँ। इसी प्रकार मेरे सारे दिन बीतते हैं। मैं और न तो कुछ करता ही हूँ और न करना जानता हूँ। मैं इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकूँ, इसके लिए दरबान, चौकीदारो, किसानों, सईसों, कोचमैनों भोजन बनानेवाले स्त्री-पुरुषों और धोबी-धोबिनों को सुबह से लेकर रात तक काम करना पड़ता है। और इन को काम के लिए जिन औजारों की जरूरत होती है उन्हें बनाने तथा कुल्हाड़ी, पीपे ब्रश, तश्तरियों, लकड़ी तथा काँच का सामान, जूतों की पालिश मिट्टी का तेल, घास, लकड़ी और भोजन आदि समान तैयार करने में जो मेहनत होती है उसका हिसाब ही अलहदा है। इन सब स्त्री-पुरुषों को रात-दिन कड़ी मेहनत इसलिए करनी पड़ती है कि मैं मजे से खाऊँ, बातें करूँ और सोऊँ ! और मैं, एक महा-निकम्मा आदमी, यह सोच रहा था कि जो लोग मेरी सेवा कर रहे हैं मैं उनका उपकार कर रहा हूँ ! मैं किसी का कोई भला नहीं कर सका और मुझे लज्जित होना पड़ा, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी मूर्ख धारणा मेरे मन में बँध गई कि मैं दूसरे लोगों का उपकार कर रहा हूँ और कर भी सकता हूँ।

वह स्त्री जो उस अपरिचित बूढ़े और बीमार आदमी की सेवा

कर रही थी, उसने वास्तव में उस वृद्ध रोगी की सहायता की। किसान की स्त्री जो अपने हाथ से पैदा किये हुए नाज की रोटी में से एक टुकड़ा काटकर भूखे को देती है, वही सच्ची सहायक है। और साइमन ने अपनी मेहनत से कमाये हुए तीन कोपक जो यात्री को दिये थे, वह उसका सच्चा दान था। क्योंकि इन कामों के अन्दर पवित्र परिश्रम और त्याग की स्वर्गीय भावना है किन्तु मैंने न तो किसी की सेवा की और न किसी के लिए कोई काम किया। और मैं जानता हूँ कि जो रुपया मेरे पास है और जिसमें से कुछ मैं दूसरों को दे दिया करता हूँ, वह मेरे परिश्रम का परिचायक नहीं है।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि रुपये में, अथवा रुपये के मूल्य में और उसके इकट्ठा करने में ही कोई दोष है, कोई बुराई है, और मैंने समझा कि मैंने जो बुराइयाँ देखी हैं उनका मूल कारण यह रुपया ही है और मैं उसी रुपये का मालिक हूँ। तब मेरे मन में प्रश्न उठा—यह रुपया है क्या ?



रुपया ! यह रुपया क्या है ?

कहा जाता है, रुपया परिश्रम का पारितोषिक है। मैं ऐसे शिक्षित लोगों से मिला हूँ, जो जोर देकर कहते हैं कि रुपया जिन लोगों के पास है वह उनके किये हुए परिश्रम का प्रतिफल है। मैं स्वीकार करता हूँ कि पहले मेरी भी ऐसी ही धारणा थी, हालाँ कि ठीक तरह स्पष्ट रूप से मैं उसे समझता न था। किन्तु अब तो यह मेरे लिए आवश्यक हो गया कि मैं अच्छी तरह समझ लूँ कि यह रुपया क्या चीज है, और ऐसा करने के लिए मैं अर्थ-शास्त्र की ओर प्रेरित हुआ।

अर्थ-शास्त्र कहता है कि पैसे में ऐसी कोई बात नहीं है कि जो अन्याययुक्त अथवा दोषपूर्ण हो। सामाजिक जीवन का वह एक स्वाभाविक परिणाम है और एक तो विनिमय की सुगमता के लिए दूसरी चीजों का मूल्य निश्चित करनेवाले साधन के रूप में, तीसरे संचय के लिए, और चौथे लेन-देन के लिए अनिवार्य रूप से रुपया आवश्यक है।

यदि मेरी जेब में मेरी आवश्यकता से अधिक तीन रूबल पड़े हों तो किसी भी सभ्य नगर में जाकर जरा-सा इशारा करने भर की देर है कि ऐसे सैकड़ों आदमी मुझे मिल जायँगे कि जो इन तीन रूबलों के बदले में चाहूँ जैसा भद्दे से भद्दा, महाघृणित और अपमानजनक कृत्य करने को तैयार हो जायँगे।

पर कहा जाता है कि इस विचित्र स्थिति का कारण रुपया नहीं है। विभिन्न जातियों के आर्थिक जीवन की विषम अवस्था में इसका कारण मिलेगा।

एक आदमी का दूसरे आदमी के ऊपर शासनाधिकार हो, यह बात रुपये से पैदा नहीं होती। बल्कि इसका कारण यह है कि काम करनेवाले को अपनी मेहनत का पूरा प्रतिफल नहीं मिलता है। परिश्रम का पूरा प्रतिफल न मिलने का कारण पूँजी, सूद, किराया, मजदूरी और धन की उत्पत्ति तथा खपत की जो बड़ी ही टेढ़ी और गूढ़ व्यवस्था है, उसमें समाया-हुआ है।

सीधी भाषा में यह कहा जा सकता है कि पैसा, बिना पैसे वालों को अपनी अँगुली पर नचा सकता है। किन्तु अर्थशास्त्र कहता है कि यह भ्रम है। प्रत्येक प्रकार की पैदावार में तीन बातें काम में आती हैं—ज़मीन, संचित श्रम अर्थात् पूँजी, और श्रम। थोड़े आदमी बहुतों के ऊपर शासन करें, यह बात पैदावार के इन तीनों साधनों के विभिन्न सम्बन्धों से पैदा होती है। क्योंकि पहले दो साधन, जमीन और पूँजी, काम करनेवाले मज़दूरों के हाथ में नहीं हैं। इस स्थिति और इस स्थिति के परिणाम-स्वरूप जो विभिन्न संयोग उपस्थित होते हैं, उनके कारण बहुत-से लोगों को एक विशिष्ट वर्ग की तावेदारी करनी पड़ती है।

अन्याय और क्रूरता से हम सबको चौंका देनेवाली द्रव्य की यह साम्राज्य-शक्ति आती कहाँ से है? एक वर्ग के लोग दूसरों के ऊपर पैसे की सहायता से किस प्रकार शासन करते हैं? शास्त्र कहता है कि इसका कारण उत्पत्ति के साधनों के

विभाग में तथा उनसे होनेवाले विभिन्न योगों में ही है और इन्हींकी वजह से मज़दूरों पर ज़ुल्म होता है।

मुझे यह उत्तर सुनकर सदा ही आश्चर्य हुआ है। केवल इसीलिए नहीं कि प्रश्न का एक भाग बिलकुल छोड़ ही दिया गया—इस पर विचार ही नहीं किया गया कि परिस्थिति पर पैसे का कैसा और कितना प्रभाव पड़ता है, बल्कि उत्पत्ति के साधनों का जो विभाग किया गया है वह भी मेरे आश्चर्य का विशेष कारण है। किसी भी निष्पक्ष मनुष्य को यह विभाग कृत्रिम और वास्तविकता से असम्बद्ध प्रतीत होगा।

ऐसा कहा जाता है कि द्रव्य की उत्पत्ति में तीन साधन काम में आते हैं—ज़मीन, पूँजी और मज़दूरी। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में यह समझ लिया जाता है कि जो कुछ पैदा होता है वह सब द्रव्यों के रूप में—उसका मूल्य इन्हीं तीनों साधनों के मालिकों में विभक्त हो जाता है। और वह होता है इस प्रकार—भाड़ा अर्थात् ज़मीन की कीमत ज़मींदार को, सूद पूँजीपति को, और मज़दूरी काम करनेवाले को मिलती है।

किन्तु क्या यह बात सच है? पहले तो हमें यही देखना है कि क्या उत्पत्ति के सदा तीन ही साधन होते हैं? क्या यह सच है? मैं जब बैठा हुआ यह लिख रहा हूँ तो मेरे चारों ओर घास की पैदावार का काम हो रहा है। इसकी उत्पत्ति में कौन-कौन से साधन काम में आते हैं? कहा जाता है कि जिस पर यह घास उगाई गई है वह ज़मीन और इसको काटकर घरतक लाने में हँसिया, पंजेठी, दाँतिया और गाड़ी आदि जिस सामान की ज़रूरत होती है वह पूँजी, और तीसरी मज़दूरी—यही तीन

साधन काम में आते हैं। किन्तु मैं स्पष्ट देखता हूँ कि यह बात सच नहीं है। ज़मीन के अलावा और भी कई बातें काम में आती हैं। सूर्य की गरमी, पानी, सामाजिक व्यवस्था, जिससे यह घास पैरों-तले रौंद नहीं डाली जाती अथवा ढोरों-द्वारा लोग उसे चरा नहीं डालते, मज़दूरों की कार्य-कुशलता, भाषा का ज्ञान आदि कई बातें हैं जो घास की उत्पत्ति में काम आती हैं। पर कौन जाने किस लिए इन सब बातों की अर्थ-शास्त्री गणना नहीं करते।

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिए सूर्य का ताप ज़मीन के समान ही उपयोगी बल्कि उससे ज्यादा ज़रूरी है। कल्पना कीजिए कि शहर में किसी वर्ग के लोग दीवाल अथवा वृक्षों के द्वारा दूसरे लोगों को सूर्य के प्रकाश से वञ्चित रक्खें तो उनकी कैसी स्थिति होगी ? फिर इसको उत्पत्ति के अंगों में क्यों नहीं गिनते ? पानी दूसरा साधन है। यह भी ज़मीन के ही समान महत्व-पूर्ण है। हवा का भी यही हाल है। एक वर्ग के लोग यदि हवा और पानी का सम्पूर्ण स्वत्वाधिकार ले लें, तो दूसरे वर्ग के लोगों की हवा-पानी के बिना कैसी स्थिति होगी, इसकी भी कल्पना की जा सकती है ! सामाजिक व्यवस्था-द्वारा संरक्षण भी एक स्वतंत्र अङ्ग है, मज़दूरों के लिए खुराक और कपड़ा भी उत्पत्ति के महत्व-पूर्ण साधन हैं—और कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस बात को स्वीकार भी किया है। शिक्षा अर्थात् बोलने और समझने की शक्ति, जिससे एक काम में से निकलकर दूसरे काम में पड़ने की समझ पैदा होती है, यह भी एक अलहदा उत्पत्ति का साधन है।

इस प्रकार उत्पत्ति के साधनों की यदि मैं गणना करने बैठूँ

तो एक पूरी पुस्तक भर जाय। तब फिर शास्त्रज्ञों ने ये तीन ही साधन क्यों पसन्द किये? और अर्थशास्त्र की मूल भित्ति के रूप में इनको ही स्वीकार करने का क्या कारण हो सकता है? सूर्य के प्रकाश और जल को भी जमीन की तरह उत्पत्ति के पृथक्-पृथक् साधनों की तरह गिन सकते हैं। मजदूरों की खुराक और कपड़े, ज्ञान और बोलने की शक्ति—ये सभी उत्पत्ति के स्वतन्त्र साधन माने जा सकते हैं। पर इन्हें न मानने का कारण यही है कि सूर्य की किरणों, वर्षा, भोजन, भाषा और बोलने की शक्ति के उपभोग करने का जो मनुष्य का अधिकार है, उसमें बहुत कम हस्तक्षेप करने का अवसर आता है और जमीन तथा औजारों के लिए समाज में प्रायः झगड़ा होता रहता है।

इस वर्गीकरण का यही एक आधार है। उत्पत्ति के साधनों का केवल तीन विभागों में वर्गीकरण भी अनियमित और स्वेच्छा-प्रेरित है और वस्तुस्थिति पर अवलम्बित नहीं है। लेकिन सम्भव है यह कहा जाय कि यह वर्गीकरण मनुष्य के लिए अनुकूल और सुविधाजनक है और जहाँ-कहीं आर्थिक सम्बन्ध स्थापित होता है, वहाँ तुरन्त ही ये तीनों बातें सामने आ खड़ी होती हैं। हमें देखना चाहिए कि क्या यह बात वास्तव में सच है?

हमारे सामीप्य में रहनेवाले रूसी उपनिवेशकों को ही लीजिए। लाखों की संख्या में वे मुद्दत से रहते चले आते हैं। वे किसी स्थान को जाते हैं, वहाँ बसते हैं, और काम करना प्रारम्भ कर देते हैं। उस समय यह बात उनके ख़याल में भी नहीं आती कि एक आदमी जिस जमीन का उपयोग नहीं करता वह उसका मालिक बन सकता है और जमीन तो यह कहती ही नहीं कि तुम

पर अमुक का अधिकार है। बल्कि औपनिवेशिक विवेकतः यह समझते हैं कि जमीन पर सारे समाज का समान अधिकार है और जो कोई जहाँ कहीं भी चाहे जोते और बोये।

खेती-बारी के लिए और मकान आदि बनाने के लिए औप-निवेशिक तरह-तरह के आवश्यक औजारों को इकट्ठा करते हैं, पर वे यह कभी नहीं सोचते कि ये औजार स्वतः ही मुनाफ़ा देने वाले हो सकते हैं। ये औज़ार (अर्थात् पूँजी) कभी यह दावा ही नहीं करते कि हमारा भी कोई अधिकार है। इसके प्रतिकूल औपनिवेशिक तो विवेकपूर्वक ऐसा मानते हैं कि आपस में एक-दूसरे से औजार, अनाज अथवा जो रुपया उधार लिया जाता है उसके लिए सूद लेना अनुचित है।

ये लोग स्वतंत्र जमीन पर अपने निजी औज़ारों से अथवा बिना-सूद-माँगे हुए औज़ारों से काम करते हैं। ये लोग या तो अपना-अपना अलहदा काम करते हैं, या सब मिलकर सामान्य हित्त के लिए उद्योग प्रारम्भ करते हैं। ऐसे समाज में लगान या भाड़ा, सूद और मज़दूरी का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसे समाज का उल्लेख करते समय मैं काल्पनिक बातें नहीं कहता बल्कि उस वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराता हूँ कि जो न केवल रूसी औपनिवेशिकों में बल्कि सभी जगह सभी लोगों में मौजूद रहती हैं, जब तक कि मानवी स्वभाव की मौलिक पवित्रता को बिगाड़ नहीं दिया जाता। मैं वह बात कह रहा हूँ कि जो प्रत्येक मनुष्य को स्वाभाविक तथा बुद्धिगम्य मालूम होती है। मनुष्य जब किसी जगह बसते हैं तो उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी

अभिरुचि के अनुसार काम पसन्द कर लेते हैं और आवश्यक साधनों को प्राप्त करके अपना-अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं।

यदि इन लोगों को साथ मिलकर काम करने में आसानी मालूम होती है तो ये काम करनेवालों का एक मण्डल बना लेते हैं। किन्तु न तो कौटुम्बिक प्रथा में और न सम्मिलित संस्थाओं में ही उत्पत्ति के ये साधन अलग-अलग प्रकट होंगे, जबतक कि मनुष्य ज़बरदस्ती कृत्रिम रूप से उन्हें विभक्त न कर डालें। उस समय केवल मेहनत और उससे सम्बन्ध रखनेवाली आवश्यक चीज़ों की ही ज़रूरत होती है—गरमी और प्रकाश के लिए सूरज की, साँस लेने के लिए हवा की, पीने के लिए पानी की, जोतने-बोने के लिए ज़मीन की, पहनने के लिए कपड़े की और पेट के लिए भोजन की, तथा काम करने के लिए हल-कुदाली आदि औज़ारों की आवश्यकता होती है। यह स्पष्ट ही है कि न तो सूर्य की किरणों, न तन के कपड़े, न हल कुदाली और फावड़े जिनसे हरएक आदमी काम करता है, और न वे मशीनें जिनमे कि संघ में मिलकर काम किया जाता है उन लोगों के सिवा किसी और की हो सकती हैं कि जो सूर्य की किरणों का उपभोग करते हैं, हवा में सांस लेते हैं, शरीर को कपड़ों से ढकते हैं और हल तथा मशीन आदि से काम करते हैं; क्योंकि इन चीज़ों की केवल उन्हीं को ज़रूरत होती है कि जो इनका उपयोग करते हैं।

मनुष्यों की आरम्भिक आर्थिक परिस्थिति का जब मैं विचार करता हूँ तब मैं यह नहीं मान सकता कि उत्पत्ति के साधनों को तीन श्रेणियों में विभक्त करना स्वाभाविक है, बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि यह न तो स्वाभाविक ही है और न विवेक-पूर्ण।

पर शायद आदिम मानव-समाज में इन तीन विभागों की आव-श्यकता न हुई होगी और जैसे आबादी बढ़ती है, और सभ्यता का विकास होने लगता है, ये विभाग अनिवार्य हो उठते होंगे। और हमें यह बात माननी ही होगी कि ये विभाग यूरोपियन समाज में मौजूद हैं।

पर देखें इस बात में कहाँ तक सचाई है। यह कहा जाता है कि यूरोपियन समाज में उत्पत्ति के साधनों का ऐसा ही वर्गीकरण प्रचलित है। अर्थात् एक आदमी ज़मीन का मालिक है, दूसरे के पास काम करने के औज़ार हैं, और तीसरे के पास न जमीन है और न औजार। हम लोग यह बात सुनने के ऐसे अभ्यस्त हो गये हैं कि हमें अब इसमें कोई विचित्रता ही नहीं मालूम होती। किन्तु इस कथन के अन्दर ही उसका आन्त-रिक खण्डन मौजूद है। मज़दूर शब्द की कल्पना में यह भाव आ जाता है कि उसके पास ज़मीन है, जिस पर वह रहता है; और औज़ार हैं, जिनसे वह काम करता है। यदि उसके पास रहने को ज़मीन और काम करने के लिए औज़ार नहीं हैं, तो वह मजदूर ही नहीं हो सकता। ज़मीन और औज़ारों से रहित मजदूर न तो आजतक कभी रहा और न कभी रह सकता है। ऐसा कोई भी मोची नहीं हो सकता, जिसके पास ज़मीन पर बना हुआ मकान पानी, हवा और काम करने के औज़ार न हों।

यदि किसान के पास ज़मीन, हल, बैल, पानी और हँसिया आदि नहीं हैं, यदि मोची के पास मकान, परावी और सुई नहीं है, तो इसका यही अर्थ है कि किसी ने ज़मीन से उसे हटा दिया है या ज़बरदस्ती उससे छीन ली है और उसका मकान, गाड़ी, हल

बैल और सुई आदि भी धोखा देकर उससे ले लिये गये हैं। किन्तु इसका यह अर्थ तो कभी हो ही नहीं सकता कि हँसिया रहित किसान या सुई विना मोची का भी अस्तित्व संसार में हो सकता है।

मछली पकड़ने के सामान के विना किसी आदमी को जमीन पर खड़े हुए देखकर हम यह नहीं समझ सकते कि यह माही-गीर है, जबतक हमें यह न मालूम हो कि किसीने उसका जाल आदि छीन लिया है। उसी तरह हम किसी ऐसे मजदूर को कल्पना नहीं कर सकते कि जिसके पास रहने के लिए मकान और काम करने के लिए औज़ार न हों, जबतक कि किसी ने उसको ज़मीन से उसे मारकर भगा न दिया हो और औज़ार उससे छीन या लूट न लिये हों।

ऐसे आदमी हो सकते हैं कि जिनको मारकर एक जगह से दूसरी जगह भगा दिया गया हो, और उनका सामान लूट लिया गया हो। इस प्रकार मजबूर होकर वे दूसरों के लिए काम करने लगते हैं, और किसी तरह अपना भी गुज़ारा करते हैं; किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि यह पैदाइश का मुख्य लक्षण है। इसका अर्थ सिर्फ़ यही है कि इस जगह उत्पत्ति की स्वाभा-विक स्थिति को नष्ट किया गया है। किन्तु यदि हम उन सब बातों को उत्पत्ति का साधन मानें, जिनसे मज़दूर को ज़बरदस्ती वञ्चित किया जा सकता हो, तो फिर गुलाम के शरीर पर जो अधिकार का दावा किया जाता है, उसकी भी इन साधनों में गणना क्यों न की जाय! वर्षा और सूर्य की किरणों पर अधि-कार करने के दावे को भी हम क्यों न गिनें!

एक आदमी ऊँची दीवाल खड़ी करके अपने पड़ोसी को धूप से वञ्चित कर सकता है, दूसरा कोई आदमी नदी के बहाव को अपने तालाब की ओर फेरकर उसे जहरीला बना सकता है, और तीसरा कोई किसी मनुष्य को अपनी सम्पत्ति बनाने का दावा कर सकता है। परन्तु बलात्कार-पूर्वक यदि कोई ऐसा कर ले, तो भी इन बातों के आधार पर उत्पत्ति के साधनों का वर्गीकरण नहीं हो सकता। ज़मीन और औज़ारों के ऊपर लोगों ने जो अपने कृत्रिम अधिकार जमा रक्खे हैं, उनको उत्पत्ति का स्वतंत्र साधन मानना वैसा ही भ्रमात्मक है, जैसा कि धूप, हवा, पानी और मनुष्य के शरीर पर अधिकार रखने के इन नये निकाले हुए दावों को उत्पत्ति का साधन मानना।

ऐसे आदमी हो सकते हैं कि जो मज़दूर की ज़मीन और औज़ारों पर अपना अधिकार बतावें, जैसे कि पुराने ज़माने में लोग गुलाम के शरीर को अपनी सम्पत्ति समझते थे, या जैसे कि अब कोई नया निकले और सूर्य की किरणों, हवा और पानी पर अपना एकान्त अधिकार बतावे। ऐसे आदमी भी हो सकते हैं, जो मज़दूरों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भगादें, उसकी मेहनत से जो पैदावार हुई है उसे ले लें, और उसके काम करने के औज़ारों को भी छीन लें। फिर तो वह वेचारा अपने लिए नहीं बल्कि अपने मालिक के लिए काम करने पर मजबूर होता है, जैसा कि फैक्टरियों और कारखानों में होता है। यह सब कुछ सम्भव है, किन्तु ज़मीन और औज़ाररहित मज़दूर की कल्पना करना अब भी एक असम्भव सी बात है—और असम्भव है वैसे ही जैसे कोई मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक किसी दूसरे की जंगम सम्पत्ति

होना स्वीकार कर ले, हालाँकि पीढ़ियों तक दूसरे मनुष्यों को अपनी सम्पत्ति समझने का दावा किया भी गया है।

कोई मनुष्य यदि यह दावा करे कि अमुक मनुष्य का शरीर मेरी सम्पत्ति है, तो इसीसे उसका अंगीभूत यह अधिकार तो छिन नहीं जाता कि वह खुद अपने हिताहित का विचार करे और अपने मालिक के लिए नहीं वल्कि अपने हित के लिए जो उचित समझे वह काम करे। बस, इसी तरह, दूसरों की जमीन और औज़ारों पर जो एकान्त अधिकार का दावा है, वह मनुष्य की हैसियत से, ज़मीन पर रहने और अपने औज़ारों से अथवा सुगमता समझे तो समाज के सामान्य औज़ारों से, जो चाहे जो काम करने का जो मज़दूर का स्वयं-सिद्ध अधिकार है उससे, उसे कभी वञ्चित नहीं कर सकता।

वर्तमान आर्थिक समस्या की विवेचना करते हुए अर्थशास्त्र केवल इतना ही कह सकता है कि यूरोप में मज़दूरों की ज़मीन और औज़ारों पर दूसरे लोग अपना अधिकार बताते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप कुछ ही मज़दूरों के लिए—सब के लिए किसी हालत में नहीं—हाँ, कुछ ही मज़दूरों के लिए उत्पत्ति के जो स्वाभाविक साधारण नियम हैं, वे विनष्ट और विकृत हो गये हैं। इसलिए वे ज़मीन और औज़ारों से वञ्चित होकर दूसरों के औज़ारों से काम करने के लिए मजबूर हो गये हैं। किन्तु इससे यह तो किसी हालत में सिद्ध नहीं होता कि उत्पत्ति के सहज साधारण नियमों का यह आकस्मिक उल्लंघन ही वास्तविक और मूल-भूत सच्चा नियम है।

अर्थशास्त्री का यह कहना, कि उत्पत्ति के साधनों का यह

त्रिविध वर्गीकरण ही उत्पत्ति का मूल नियम है, ठीक ऐसा ही है, जैसा कि कोई प्राणिशास्त्र का अध्ययन करनेवाला बहुत से सिसकिन नाम के पक्षियों को पीजड़े में बन्द और उनके पंखों को कटा हुआ देखकर यह कहने लगे कि पक्षियों के जीवन को यह आवश्यक और अनिवार्य स्थिति है, और पक्षी-जीवन का निर्माण ही इसी ढंग पर हुआ है।

कितने ही सारे पक्षी पंख काटकर और पींजड़े में बन्द करके क्यों न रक्खे गये हों, कोई भी प्राणि-शास्त्री उन्हें देखकर यह नहीं कह सकता कि यह स्थिति, और घांड़िया के ऊपर रखी हुई पानी की छोटी सी रकाबी--यही बातें प्राणी-जीवन की वास्तविक स्थिति की परिचायक हैं। चाहे कितने ही मजदूरों का स्थान छुड़ाकर उनकी पैदा की हुई चीजों को और उनके औजारों तक को छीन लिया जाय, मगह फिर भी जमीन पर रहने और अपने औजारों से काम करने का जो उनका स्वभाव-सिद्ध मानवी अधिकार है, वह उनके लिए अनिवार्य है, आवश्यक है, और सदा ऐसा ही रहेगा।

निःसन्देह ऐसे कुछ लोग हैं, जो मजदूरों की जमीन पर और उनके औजारों पर अपना अधिकार बताते हैं, जैसे कि पहले जमाने में कुछ लोग दूसरों के शरीर को अपनी मिलकियत समझने का दावा करते थे। किन्तु कुछ भी हो, स्वामी और दास इन दो श्रेणियों में मनुष्य-समाज का सच्चा वर्गीकरण हो ही नहीं सकता, जैसा कि प्राचीन काल में लोग इस वर्गीकरण की स्थापना कर देना चाहते थे। उत्पत्ति के साधनों का भी कोई सच्चा वर्गीकरण नहीं हो सकता, जैसा कि अर्थ-शास्त्री

ज़मीन और पूँजी आदि विभाग करके इस प्रकार का वर्गीकरण स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

दूसरों की स्वतंत्रता का अपहरण करनेवाले इन अन्याय-पूर्ण दावों को अर्थशास्त्र 'उत्पत्ति के स्वाभाविक साधनों' के नाम से पुकारता है। मानव-समाज के स्वाभाविक गुणों को अपने सिद्धान्तों का आधार बनाने के बजाय, अर्थशास्त्र ने एक विशिष्ट स्थिति को देखकर, अपने नियमों की रचना कर डाली; और इस स्थिति को ठीक सिद्ध करने के लिए उसने उस ज़मीन पर, जिसपर कि दूसरे लोग मेहनत करके अपनी रोज़ी कमाते हैं, और उन औज़ारों पर कि जिनके द्वारा अन्य लोग काम करते हैं, कुछ खास लोगों का अधिकार मान लिया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उसने एक ऐसी बात को अधिकार का स्वरूप दे दिया, कि जिसका अस्तित्व कभी था ही नहीं, जो कभी हो ही नहीं सकती और जो स्वयं अपना खण्डन करती है। क्योंकि जो आदमी ज़मीन का उपयोग नहीं करता उसका उस ज़मीन पर दावा करने का अर्थ वास्तव में इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि जिस ज़मीन का वह उपयोग नहीं करता उसके उपयोग करनेका अधिकार चाहता है। दूसरे लोगों के औज़ारों पर भी अपना अधिकार रखने का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि वह उन औज़ारों से काम लेने का अधिकार प्राप्त करना चाहता है, जिनसे कि वह स्वयं काम नहीं लेता।

पुराने ज़माने में मनुष्यों को नागरिक और दास श्रेणी में विभक्त करके यह कहा जाता था कि दासता की अस्वाभाविक अवस्था ही जीवन की स्वाभाविक अवस्था है। ठीक इसी तरह

उत्पत्ति के साधनों का वर्गीकरण करके अर्थशास्त्र कहता है कि प्रत्येक मज़दूर की--अर्थात् प्रत्येक मनुष्य की, यदि शब्द का सच्चे अर्थ में प्रयोग किया जाय—स्वाभाविक अवस्था उसकी यही वर्तमान स्वाभाविक अवस्था है, जिसमें कि वह रहता है।

वर्तमान अन्याय को ठीक सिद्ध करने के लिए ही अर्थशास्त्र ने जिस वर्गीकरण को स्वीकार किया है, और जिसे अपनी समस्त समीक्षा का उसने आधार माना है, वह वर्गीकरण ही इस बात के लिए ज़िम्मेवार है कि उक्त शास्त्र वर्तमान विचित्र परिस्थिति का खुलासा करने के लिए जी तोड़कर कोशिश करता है, पर सफल नहीं हो पाता; और सामने आनेवाले प्रश्नों का जो बिलकुल सीधा और सरल जवाब है, उसे न मानकर ऐसे टेढ़े-मेढ़े उत्तर देता है कि जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता।

अर्थशास्त्र के सामने यह प्रश्न उपस्थित है कि धन के द्वारा कुछ लोग ज़मीन—पूँजी पर एक प्रकार का काल्पनिक अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, और जिनके पास धन नहीं है उन्हें वे चाहें तो अपना ग़ुलाम बना सकते हैं। इसका क्या कारण है? साधारण विवेक को तो इसका उत्तर यही मालूम पड़ता है, कि यह धन का परिणाम है, जिसका स्वभाव ही मनुष्यों को ग़ुलाम बनाना है।

परन्तु अर्थशास्त्र इस बात से इनकार करता है और कहता है, यह बात धन के कारण नहीं होती बल्कि इसकी वजह यह है कि कुछ लोगों के पास ज़मीन और पूँजी है और कुछ लोगों के पास दोनों में से एक भी नहीं है।

हम पूछते हैं—जिन लोगों के पास ज़मीन और पूँजी है वे

उन लोगों को क्यो सताते हैं कि जिनके पास दो में से एक भी नहीं है ? हमें जवाब मिलता है—उनके पास ज़मीन और पूँजी दोनों हैं ।

किन्तु यही तो हमारा प्रश्न था । जमीन और औज़ारों से किसी को वञ्चित कर देना ही क्या ज़बरदस्ती ग़ुलाम बनाने के समान नहीं है ? जीवन यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न बार-बार पूछता है, अर्थशास्त्र भी यह देखता है और उसका जवाब देने की कोशिश करता है, पर सफल नहीं हो पाता । क्योंकि अपनी ग़लत भित्ति पर बने हुए सिद्धान्तों से चलकर वह एक ऐसे वाहियात चक्कर में पड़ जाता है कि जिसमें से बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं है ।

इस प्रश्न का सन्तोष-जनक उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के साधनों का जो ग़लत विभाग उसने किया उसे वह भूल जाय, हमारी विशिष्ट परिस्थिति के जो परिणाम हैं उन्हें कारण मानना छोड़ दे, और जिस विशिष्ट परिस्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है पहले उसके समीपस्थ स्पष्ट कारणों की और फिर दूर के कारणों की तलाश करे ।

अर्थ-विज्ञान को इस बात का उत्तर देना चाहिए कि ऐसा क्यों है कि कुछ आदमी ज़मीन और औज़ारों से वञ्चित हैं, और कुछ लोगों के पास ये दोनों ही मौजूद हैं ? या, जो लोग जमीन पर मेहनत करते हैं और औज़ारों से काम करते हैं उनसे ज़मीन और औज़ार ले लिये जाते हैं-- इसका क्या कारण है ?

यदि अर्थ-विज्ञान गम्भीरतापूर्वक इस प्रश्न को अपने सामने रक्खेगा तो उसके सामने नये विचार आयेंगे, और मज़-

दूर की ख़राब स्थिति का कारण उसकी ख़राब स्थिति है, ऐसे विधानों की भूलभुलैयों में फिरनेवाले झूठे विज्ञान की पहली धारणायें सारी की सारी एकदम बदल जायँगी।

सरल-चित्त लोगों के लिए इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि कुछ लोग दूसरे आदमियों के ऊपर जो अत्याचार करते हैं, इसका स्पष्ट कारण धन है। पर विज्ञान इसे अस्वीकार करता हुआ कहता है—रुपया तो केवल विनिमय का साधन है, आदमियों को ग़ुलाम बनाने से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं।

अच्छा तो हम लोग देखें कि ऐसा है कि नहीं।

रुपया अस्तित्व में आया कैसे ? किस स्थिति में जातियाँ हमेशा अपने पास पैसा रखती हैं, और वे कौनसी अवस्थायें है कि जिनमें जातियों को पैसे का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं होती ?

पुराने ज़माने में सिथियन और ढेवलियन जिस प्रकार रहते थे, वैसे ही आज भी आफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया में कुछ जातियाँ रहती हैं। वे पशु पालकर, तथा खेती-बारी करके अपनी गुज़र करती हैं। इतिहास के प्रभात में ही हम उनकी चर्चा सुनते। पर इतिहास के कथानक का प्रारम्भ तो आक्रमणकारियों के उल्लेख से ही होता है, और ये आक्रमणकारी सदा एक ही रीति का अनुसरण करते आये हैं। वे विजित लोगों के पास से उनके पशु, अन्न और वस्त्र-जो कुछ हाथ लगता है-छीन लेते हैं, और वे बहुत से स्त्री-पुरुषों को क़ैद भी कर लेते हैं और उन्हें अपने साथ ले जाते हैं।

थोड़े दिनों पीछे वे फिर चढ़ाई करते हैं। किन्तु पहले आक्रमण से अभी यह जाति पनपने नहीं पाती, और इसलिए लूटकर ले जाने लायक उसके पास कुछ भी नहीं होता। अतएव आक्रमणकारी जीती हुई कौम की शक्तियों से लाभ उठाने के लिए दूसरी सुविधाजनक तरकीबें ढूँढ निकालते हैं।

ये तरकीबें इतनी सरल होती हैं कि हर किसी को स्वभावतः

ही सूझ जाती हैं। पहली तरकीब तो यह है कि जीती हुई जाति के लोग गुलाम बना लिये जाते हैं, किन्तु इस पद्धति में सारी जाति की जाति से काम लेने की व्यवस्था करना और सब को खिलाने-पिलाने का प्रबन्ध करना पड़ता है। यह एक बड़ी भारी अड़चन है। इसलिए सहज ही उन्हें एक दूसरी पद्धति सूझ जाती है। वह यह कि विजित जाति को उसकी ज़मीन पर रहने और काम करने देते हैं, पर उस ज़मीन पर अधिकार अपना रखते हैं, और उसे अपने प्रमुख सैनिकों में बाँट देते हैं; ताकि उनके द्वारा इन लोगों की मज़दूरी का उपयोग किया जा सके। पर इस पद्धति में भी खराबी तो है ही। विजेता लोगों को विजित जाति की समस्त पैदावार पर दृष्टि रखनी पड़ती है। और इसलिए पहली दो पद्धतियों जैसी ही एक तीसरी जंगली पद्धति का अनुसरण किया जाता है। वह यह कि विजेता लोग विजित जाति पर एक प्रकार का अनिवार्य कर लगाते हैं जो उन्हें नियत समय पर अदा करना पड़ता है।

विजेताओं का उद्देश्य यह होता है कि वे विजित जाति से उनकी पैदावार का अधिक से अधिक भाग ले लें। यह स्पष्ट ही कि ऐसा करने के लिए विजेता लोग ऐसी ही चीज़ें ले जायँगे, जो सबसे अधिक कीमती होंगी और जिन्हें ले जाने और सञ्चय करने में आसानी होगी। इसलिए वे पशुओं की खाल तथा सोना आदि ऐसी ही चीज़ें ले जाते हैं। इसके लिए वे प्रत्येक कुटुम्ब अथवा जमात पर खाल अथवा सोने का कर लगाते हैं, जो नियमित समय पर उन्हें देना होता है; और इस प्रकार सारी जाति की मेहनत से वे सरलतापूर्वक लाभ उठाते हैं।

खाल और सोना जब इस प्रकार उनसे ले लिया जाता है, तब फिर अपने मालिकों को देने के लिए अधिक खाल और सोना प्राप्त करने के लिए उन्हें अपनी अन्य सभी चीजें बेचनी पड़ती हैं; और जब जायदाद बेचने को नहीं रहती है, तो फिर वे अपने आपको और अपनी मेहनत को बेचने के लिए, मजबूर होते हैं।

प्राचीन समय में और मध्य-युग में भी ऐसा ही होता था, और अब भी ऐसा ही होता है। पुराने जमाने में एक जाति का दूसरी जाति पर आक्रमण करना और उसे जीतना प्रायः होता ही रहता था। और चूँकि उस समय इस भाव का अभाव था कि सब मनुष्य समान हैं, इसलिए लोगों को अधिकृत करने के लिए वैयक्तिक दासता की प्रथा की विशेष चलन थी। और इसी पर लोग ज्यादा जोर देते थे। मध्यकाल में जागीर-पद्धति अर्थात् जमीन की मालिकी और उससे सम्बद्ध दूसरों से ज़बरदस्ती काम कराने की पद्धति कुछ अंशों में 'वैयक्तिक दासता' का स्थान ग्रहण करती है और इस प्रकार मनुष्य के बजाय जमीन ज़ोर और जुल्म का केन्द्र बन जाती है। आधुनिक काल में अमेरिका की खोज के समय से और व्यापार के विकास तथा सुवर्ण की पैदाइश में वृद्धि होने से, जो सारे जगत् में विनिमय का साधन माना जाता है, कर आदि रुपये के रूप में लिए जाते हैं और राज्य-शक्ति की वृद्धि के साथ रुपये की किश्त लोगों को गुलामी में फँसाने का प्रमुख साधन बन गई है। अब मनुष्य के समस्त आर्थिक सम्बन्ध इसी के आधार पर चलते हैं।

'लिट्रेरी मिसेलेनी' में प्रोफेसर यान्जल का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें फिजी द्वीप के आधुनिक इतिहास का वर्णन

है। यदि मैं एक ऐसे उदाहरण की खोज में होता कि जो यह बात दिखलाता कि किस प्रकार हमारे ज़माने में रुपये की किश्त-बंदी दूसरे लोगों को अपना गुलाम बनाने का ज़बरदस्त साधन बन गई है, तो मैं समझता हूँ कि हाल में होनेवाली घटनाओं के विवरण पर बने हुए इस विश्वसनीय इतिहास से बढ़कर प्रभाव-शाली और स्पष्ट किसी दूसरे उदाहरण की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।

दक्षिण महासागर के पालिनेशिया-अंतर्गत द्वीपों में फ़िजी नाम की एक जाति रहती है। जिस स्थान पर ये लोग रहते हैं वह छोटे-छोटे टापुओं का बना हुआ है, और उनका कुल क्षेत्रफल लगभग चालीस वर्गमील है। सिर्फ आधा ही मुल्क बसा हुआ है और उसमें १५०००० मूल निवासी और १५०० गोरे हैं। इन लोगों को जंगली अवस्था छोड़कर सुधरे हुए बहुत दिन हो गये हैं और पालिनेशिया के अन्य निवासियों की अपेक्षा दिमाग़ी ताक़त में बढ़-चढ़कर हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनमें काम करने की शक्ति और विकास की योग्यता है, क्योंकि थोड़े ही दिनों में कृषि और पशु-पालन में उन्होंने अपनी दक्षता सिद्ध कर दिखाई है।

ये लोग खूब खुशहाल थे, किन्तु सन् १८५९ ई० में इनकी स्थिति बड़ी ही क्लिष्ट और निराशा-जनक हो उठी। फिजी जाति और उसके मुखिया ककोबो को रुपये की ज़रूरत पड़ी। अमेरिका का संयुक्त राज्य ४५००० डालर मुआविज़े के रूप में ककोबा से माँगता था, क्योंकि उसका कहना था कि फिजी के लोगों ने अमेरिका नागरिकों पर जुल्म किया है। यह रुपया

वसूल करने के लिए अमेरिकनों ने एक दल रवाना किया, जिसने ज़मानत के बहाने, अचानक ही, कुछ उत्तमोत्तम टापुओं पर कब्ज़ा कर लिया और यह धमकी दी कि यदि एक निश्चित तिथि तक मुआविज़े की रक़म अदा न कर दी जायगी तो उनके नगरों को गोले-बारूद से उड़ा दिया जायगा।

मिशनरियों को लेकर अमेरिकन लोग फिजी द्वीप में बहुत पहले आकर बस गये थे। उस समय तक बहुत थोड़े ही औपनिवेशिक वहाँ आ बसे थे। इन लोगों ने किसी न किसी बहाने से द्वीप की अच्छी से अच्छी ज़मीन अपने अधिकार में ले ली और कॉफी और कपास की खेती शुरू कर दी। इन्होंने ढेर के ढेर मूल निवासियों को अपने यहाँ नौकर रख लिया और ऐसी शर्तों में उन्हें बाँध लिया कि जो इन अर्ध सभ्य लोगों को एकदम अज्ञात थीं। इसके अलावा वे अपना काम ऐसे ठेकेदारों के द्वारा चलाते थे कि जो मनुष्यों की खरीद-फरोख्त का व्यापार करते थे।

इन मालिकों और मूल-निवासियों में, कि जिन्हें वे एक तरह से अपना गुलाम ही समझते थे, अनबन होना स्वाभाविक ही था। किसी ऐसे ही झगड़े को उन्होंने फिजी के लोगों से मुआविज़ा माँगने का बहाना बना लिया।

खुशहाल होते हुए भी फिजी के लोगों ने उस समय तक अपने यहाँ उसी स्वाभाविक विनिमय-प्रथा को बनाये रक्खा, जो यूरोप के अन्दर मध्ययुग में प्रचलित थी। इन लोगों के अंदर सिक्के का चलन तो यों समझिए कि बिलकुल था ही नहीं। इनका सारा आधार वस्तु-विनिमय-पद्धति पर चलता—एक चीज़

देकर बदले में दूसरी चीज ले लेते थे। जो थोड़े-से सामाजिक और राज्य-कर देने पड़ते थे उन्हें वे स्थानीय पैदावार के द्वारा अदा करते थे। भला, फ़िजी के लोग और उनका राजा ककोबो क्या कर सकता था, जब कि अमेरिकन लोग ४५ हजार डालर माँग रहे थे और उन्हें बेतरह धमका रहे थे? इतने सारे डालर उन्होंने कभी देखे भी न थे। सिक्के तो क्या, यह संख्या ही उनके लिए कल्पनातीत थी। अन्य सामन्तों से परामर्श करने के बाद ककोबो ने पहले तो यह निर्णय किया कि इंग्लैण्ड की रानी से इन द्वीपों की अपनी संरक्षकता में ले लेने के लिए प्रार्थना की जाय। किन्तु बाद को द्वीपों को अपने राज्य में मिला लेने के लिए इंग्लैण्ड से अनुरोध करने का उन्होंने निश्चय किया।

किन्तु इस अर्ध-सभ्य राजा को उसकी मुसीबत के समय सहायता पहुँचाने की इंग्लैण्ड को ऐसी कोई उतावली तो थी ही नहीं इसलिए उसने इस प्रार्थना पर अत्यन्त सावधानी के साथ विचार करना शुरू किया। सीधा उत्तर देने के बजाय उन्होंने १८६० में फ़िजी द्वीप के सम्बन्ध में तहक़ीक़ात करने के लिए एक ख़ास कमीशन भेजा, ताकि वह यह निश्चय कर सके कि फ़िजी द्वीप को इंग्लैण्ड में मिलाने और अमेरिकनों को सन्तुष्ट करने के लिए इतनी बड़ी रक़म देने से कोई लाभ भी होगा कि नहीं।

इस दर्म्यान में अमेरिकन सरकार रुपयों के लिए बराबर तकाजा करती रही और उसने ज़मानत के तौर पर द्वीप के कुछ उत्तमोत्तम भाग अपने क़ब्जे में ले लिये; और फ़िजी जाति की सम्पत्ति का ठीक हाल मालूम होने पर उन्होंने मुआविजे की रक़म बढ़ाकर ९०००० डालर कर दी। साथ ही यह धमकी भी

दी कि यदि रुपया फ़ौरन ही अदा न किया गया तो यह रक़म और भी बढ़ा दी जायगी। बेचारा कक़ोवो चारों ओर आपत्तियों से घिरा हुआ था। लेन-देन के व्यवहार की यूरोपीय पद्धति से वह बिलकुल ही अपरिचित था। इसलिए गोरे औपनिवेशिकों की सलाह से उसने मेलबोर्न के व्यापारियों से पैसे लेने की चेष्टा की। यहाँ तक कि पैसे के लिए वह अपना राज्य तक निजी लोगों के हाथ में सौंपने को तैयार हो गया।

ककोवो की प्रार्थना के परिणाम-स्वरूप मेलबोर्न में एक व्यापारिक मंडल की स्थापना हुई। 'पालिनेशियन कम्पनी' नामक इस मण्डल ने फ़िजी के सरदारों से बहुत ही लाभदायक शर्तें ठहराकर एक दस्तावेज़ तैयार की। कई किश्तों में रुपया अदा कर देने का वादा करके कम्पनी ने क़र्ज़ा अपने ऊपर ले लिया। पहली सन्धि के अनुसार कम्पनी को पहले एक और दो हज़ार एकड़ बढ़िया ज़मीन प्राप्त हुई; सदा-सर्वदा के लिए सब प्रकार के कर माफ़ हो गये और फ़िजी में बैंक स्थापित करने का उन्हें एकान्त स्वत्व तथा असमर्यादित संख्या में नोट बनाने का विशिष्ट अधिकार भी मिल गया।

यह सन्धि सन् १८६८ में निश्चित रूप से तय हो गई और तब से ककोवो की स्थानीय सरकार के साथ ही साथ एक दूसरी शक्ति का आविर्भाव हुआ। यह शक्ति उसी व्यापारिक मण्डल की थी कि जिसके पास द्वीप भर में फैली हुई बहुत बड़ी जायदाद थी, और जिसका सरकार पर काफ़ी ज़ोर और ज़बरदस्त असर था।

अभी तक तो ककोवो की सरकार का काम स्थानीय पंचा-

वार में से मिलनेवाले अंश और थोड़े-से आयात-कर से चल जाता था, किन्तु सन्धि और प्रभावशाली पालीनेशियन कम्पनी के निर्माण से उसकी आर्थिक स्थिति में अन्तर पड़ा। द्वीप-समूह की बहुत-सी उत्तमोत्तम ज़मीन कम्पनी के हाथ में चली जाने से राज्य की आय कम हो गई। उधर कम्पनी को आनेवाले तथा जानेवाले माल पर कर न देने को आज्ञा मिल गई थी, इसलिए माल की ज़कात की आमदनी भी बहुत घट गई। मूल निवासियों की ओर से तो ज़कात की आय वैसे ही बहुत कम थी। क्योंकि निन्यानवे फ़ी सदी ये लोग कपड़ा और धातु की बनी हुई कुछ चीज़ों के अलावा बाहर से आई हुई शायद ही किसी चीज़ का व्यवहार करते थे। किन्तु कम्पनी के सब प्रकार के कर माफ़ हो जाने से और लोगो के मँगाये हुए माल के द्वारा जो ज़कात की आय होती थी वह एकदम बन्द हो गई। ककोबो को अब यह चिन्ता हुई कि आय में वृद्धि किस प्रकार की जाय?

इस मुश्किल को हल करने के लिए फ़िजी के राजा ने अपने गोरे मित्रो से सलाह पूछी। उन्होने उस देश में पहले-पहल सीधा कर लगाने की राय दी, और कर-प्राप्ति की झंझट को यथा-सम्भव कम करने के लिए उन्होंने यह सलाह दी कि इस कर के सम्बन्ध में 'रोकड़-पैसा' वसूल किया जाय। यह कर समस्त राज्य में प्रत्येक मनुष्य पर लगाया गया। प्रत्येक पुरुष को एक पौंड और प्रत्येक स्त्री को चार शिलिङ्ग भरना पड़ते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फ़िजी के लोगों में अभी तक वस्तु विनिमय अर्थात् आपस में चीज़ें बदलने की पद्धति जारी है। शायद ही किसी मूल निवासी के पास कोई सिक्का हो।

कच्चा माल और पशु ही उनका धन है, रुपया-पैसा नहीं। किन्तु प्रत्येक मनुष्य के हिसाब से इस नये कर को नियमित समय पर चुकाने के लिए उनको बहुत-से रुपयों की जरूरत महसूस होने लगी।

अभी तक लोगों को व्यक्तिगत रूप से सरकार का भार वहन करने का अभ्यास न था, हाँ, उसके लिए मेहनत-मजदूरी कर देते थे। सरकार को जो कर देने होते थे वे सब उस गाँव अथवा जाति के द्वारा अदा किये जाते थे कि जिससे उसका संबंध होता था। सार्वजनिक सामान्य खेतों की पैदावार में से ही ये कर भरे जाते थे और लोगों की खास आमदनी भी इन्हीं खेतों के द्वारा होती थी। अब उनके लिए केवल एक ही मार्ग था और वह यह कि यूरोपियन औपनिवेशिकों से रुपया उधार लिया जाय अर्थात् या तो यूरोपीय व्यापारी से रुपया माँगें अथवा यूरोपीय कृषक प्लांटर से।

व्यापारियों के हाथ उन्हें अपनी चीज उन्हीं की शर्तों पर बेच देनी पड़ती और कभी-कभी तो नियत समय पर कर अदा करने के लिए उन्हें अपनी आगामी फसल भी गिरवी रख देनी पड़ती थी और इससे व्यापारी लोग खूब मनमाना सूद वसूल करते थे। दूसरी सूरत यह थी कि वे प्लान्टरों से रुपया लेते थे और अपनी मेहनत उनके हाथ बेच देते थे। इस तरह वे कृषक न रह कर उनके नौकर हो जाते थे। फिजी द्वीप में मजदूरी भी काफ़ी ही कम थी, और वह शायद इसलिए कि वहाँ आदमी कामों से दवाम मिलते थे। प्रत्येक वयस्क को प्रति सप्ताह एक शिलिङ्ग अथवा दो पौण्ड बारह शिलिङ्ग प्रति वर्ष से अधिक नहीं मिलते थे। परिणाम

यह हुआ कि कुटुम्ब का भार तो अलहदा रहा, अपना व्यक्ति-गत कर चुकाने के लिए फ़िजी के लोगों को अपना घर-बार और अपनी ज़मीन छोड़कर कभी-कभी बहुत दूर किसी दूसरे टापू में कम से कम ६ मास तक प्लान्टर की गुलामी करने के लिए जाना पड़ता था। और फिर कुटुम्ब के लोगों का कर अदा करने के लिए उसे दूसरे उपायों की शरण लेनी पड़ती थी।

इस स्थिति का परिणाम क्या हो सकता है, इसे हम लोग आसानी से समझ सकते हैं। १५०००० की आबादी में से ककोबो कुल ६००० पौण्ड इकट्ठा कर सका। अभी तक सख्ती और जुल्म से लोग अपरिचित थे, किन्तु कर वसूल करने के लिए तरह-तरह का अत्याचार उन लोगों पर किया जाने लगा।

स्थानीय शासन जो अभी तक बिगड़ने न पाया था अब-शीघ्र ही यूरोपियन प्लान्टरों के साथ मिलाया और प्लान्टर लोग खूब अपना मतलब साधने लगे। कर न अदा कर सकने के अप-राध में फ़िजी के लोगों को अदालत में पकड़ बुलाया जाता था और उन्हें केवल ख़र्चा ही नहीं देना पड़ता था बल्कि जेलख़ाने भी जाना पड़ता था और वह भी ६ महीने से कम के लिए नहीं। यह जेल क्या था, गोरे लोगों के लिए मज़दूर प्राप्त करने का साधन था। जो गोरा सब से पहिले मुकदमे का ख़र्चा और अपराधी का कर अदा कर देता था, वही उसको अपने काम पर लगाने का हक़दार हो जाता। इस तरह गोरे प्रवासियों को मज़दूरी बहुत ही सस्ती पड़ती।

पहले तो इस अनिवार्य मज़दूरी की अवधि ६ महीने से अधिक न होती थी, पर पीछे से जज लोग रिश्वत ले लेकर १८

महीनों तक की सज़ा देने लगे और कभी-कभी तो बाद को भी सज़ा बढ़ा देते।

बड़ी ही जल्दी, केवल थोड़े ही वर्षों में, फ़िजी के लोगों की सामाजिक अवस्था बिलकुल बदल गई। ज़िले के ज़िले, जो पहले खूब हरे-भरे और आबाद थे, अब बिलकुल कंगाल हो गये और उनकी आबादी भी आधी रह गई। बुड्ढों और बीमारों को छोड़-कर जितने मर्द थे, सभी कर अदा करने के लिए रुपये की खातिर अथवा अदालती फ़ैसले के परिणाम-स्वरूप घर से दूर, प्लान्टरों के खेतों में, मेहनत-मज़दूरी करते थे। फ़िजी की स्त्रियों को खेतों में काम करने का अभ्यास न था, इसलिए पुरुषों की अनुपस्थिति में घर की खेती-बाड़ी का काम एकदम बन्द हो गया। कुछ ही सालों के अन्दर फ़िजी की आधी आबादी औपनिवेशिकों की गुलाम बन गई।

अपनी इस दुर्दशा से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने एक बार फिर इंग्लैंण्ड से प्रार्थना की। एक नया प्रार्थनापत्र तैयार किया, जिसमें बहुत से मुखिया लोगों तथा सरदारों ने हस्ताक्षर किये। यह दस्तावेज़, जिसमें फ़िजी द्वीप को इंग्लैण्ड में मिला लेने की प्रार्थना की गई थी, अंगरेज़ी राजदूत के हाथ में सौंप दिया गया। इस बीच में इंग्लैण्ड ने अपने भेजे हुए कमीशन द्वारा फ़िजी द्वीप की वर्तमान अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक ढंग से उसने इन द्वीपों का निरीक्षण और उनकी पैमाइश भी कराई और दुनिया के एक कोने में पड़े हुए इस सुन्दर द्वीप-समूह की प्रकृति प्रदत्त सम्पत्ति को खूब पसन्द किया।

इन सब बातों के कारण फिजी लोगों को इस बार अपने उद्योग में पूर्ण सफलता मिली और सन् १८७४ में इंग्लैण्ड ने सरकारी तौर पर फ़िजी द्वीप को अपने अधिकार में लेकर अपने उपनिवेशों में मिला लिया; जिससे अमेरिकन प्लान्टरों को बड़ा असंतोष हुआ। ककोबो का देहान्त हो गया। उसके उत्तराधिकारियों को थोड़ी-सी पैंशन दे दी गई और उन द्वीपों का शासन न्यूसाउथवेल्स के गवर्नर सर हरक्यूलीज राबिंसन के हाथ में सौंप दिया गया। इंग्लैण्ड से सम्बन्धित होने के प्रथम वर्ष फ़िजी में स्वायत्त शासन न था बल्कि ये लोग सर हरक्यूलीज रोबिन्सन के द्वारा नियुक्त किये हुए शासक के अधीन थे।

द्वीप-समूह को अपने हाथ में ले लेने के बाद उनसे जो आशायें की गई थीं उन्हें पूरा करने का कठिन कार्य अब अंगरेज़ सरकार को करने के लिए तैयार होना पड़ा। फ़िजी लोगों की तो स्वभावतः ही सबसे पहली इच्छा यह थी कि वह घृणित मनुष्य-कर हटा दिया जाय। और औपनिवेशिकों का एक भाग अर्थात् अमेरिकन लोग अंगरेज़ी शासन को संदेह की दृष्टि से देखते थे और दूसरा भाग अर्थात् अंगरेज़ जाति के लोग यह चाहते थे कि फ़िजी, लोगों के ऊपर उनकी जो सत्ता और जो अधिकार हैं उन सबको नियमित मान लिया जाय और ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने की आज्ञा उन्हें मिल जाय। किन्तु अंगरेज़ सरकार इन सब बाधाओं का मुक़ाबला करने में समर्थ निकली और उसने सबसे पहला काम यह किया कि उस मनुष्य-कर को सदा के लिए हटा दिया कि जिसके कारण कुछ औपनिवेशिकों के लाभ के लिए फिजी के लोगों में ग़ुलामी की जड़ पड़ गई थी।

किन्तु इस कार्य में सर राबिन्सन को एक बड़े भारी असमंजस का सामना करना पड़ा। जिस मनुष्य-कर को दूर करने के लिए फिजी के लोगों ने अंग्रेज़ों की सहायता माँगी थी उसको तो दूर करना ही था, पर साथ ही साथ अंग्रेजी औपनिवेशिक नीति के अनुसार उन्हें स्वावलम्बी बन कर अपने शासन का खर्चा आप निकालना चाहिए था। मनुष्य-कर हटा देने के बाद फिजी के लोगों से जो आय हो सकती थी वह सब मिलाकर ६ हज़ार पौण्ड से अधिक न थी और शासन-खर्च के लिए प्रति वर्ष कम से कम ७० हज़ार पौण्ड की आवश्यकता थी।

रुपये का कर हटाकर सर राबिन्सन ने मज़दूरी का कर लगाने की तरकीब सोची, पर कर्मचारियों का भरण-पोषण करने लायक आमदनी इससे भी न हुई। गार्डन नाम का नया गवर्नर जबतक न आया तबतक यह स्थिति नहीं सुधरी। गार्डन ने आते ही यह निश्चय किया कि फिजी में जबतक रुपये का काफी चलन न हो जायगा तबतक वह रुपया न माँगकर फिजीवासियों से उनकी पैदावार की चीजें ले लेगा और उन्हें अपने प्रबन्ध से बेचेगा।

फिजी लोगों के जीवन का यह करुण प्रसंग स्पष्ट और उत्तम रीति से यह बताता है कि वास्तव में पैसा क्या चीज़ है और उसका असर कहाँ तक पहुँच सकता है। इस उदाहरण में सभी आवश्यक अंगों का दिग्दर्शन हो जाता है—गुलामी की पहली और मुख्य शर्त—बन्दूक, धमकियाँ, हत्यायें, लूट-पाट और अन्तिम चीज़ रुपया जिसने लोगों को गुलाम बनाने के अन्य सब साधनों का स्थान ले लिया है। राष्ट्रों के आर्थिक विकास

का इतिहास पढ़कर, शताब्दियों तक की घटनाओं का क्रमानुसार अध्ययन करने के बाद, हम जो बात मालूम कर पाते हैं वह इस घटना में है कि जिसमें पैसे के सभी प्रकार के अन्यायों और अत्याचारों का खूब खुलकर खेल हुआ है—दस ही वर्ष के अन्दर ही अच्छी तरह प्रस्फुटित होती हुई देखते हैं।

नाटक इस प्रकार आरम्भ होता है—अमेरिकन सरकार फिज़ी द्वीप के लोगों को अपने अधीन करने के लिए बन्दूकों से भरे हुए जहाज़ भेजती है। बहाना है रुपया वसूल करने का, पर यह करुण प्रसंग आरम्भ इस प्रकार होता है कि फ़िज़ी के समस्त अधिवासियों के ऊपर तोपें लगाई जाती हैं और इनमें स्त्री, बच्चे, बूढ़े और जवान सभी तरह के लोग हैं और प्रायः सभी निर्दोष। 'रुपया दो या ज़िन्दगी से हाथ धोओ'—४५ हज़ार डालर और फिर ९० हज़ार अथवा कत्ल आम। परन्तु ९० हज़ार डालर उन्हें मिलते नहीं और यहीं से आरम्भ होता है–दृश्य नम्बर दो। इसमें उस भयंकर खूनी और क्षणस्थायी पद्धति के स्थान पर एक नवीन यातना का आविष्कार होता है, जो इतनी स्पष्ट तो दिखाई नहीं पड़ती पर उसका असर सब लोगों तक पहुँचता है और देर तक रहता है। फ़िज़ी के मूल निवासी नर-हत्या के स्थान पर रुपये की गुलामी स्वीकार करते हैं। रुपया उधार लेते ही वह पद्धति शिक्षित सेना की तरह अपना काम आरम्भ कर देती है। पाँच वर्ष के अन्दर काम पूर्ण हो जाता है—मनुष्यों ने अपनी ज़मीन और जायदाद के उपयोग करने का अधिकार ही नहीं खो दिया बल्कि अपनी स्वतंत्रता भी खो बैठे; बस, एकदम गुलाम बन गये।

अब तृतीय दृश्य प्रारम्भ होता है। स्थिति बड़ी ही दुःख-जनक है। इन अभागों को सलाह दी जाती है कि वे मालिक बदलकर दूसरे के गुलाम हो जावें। रुपये-द्वारा गुलामी से मुक्त होने का उनके दिमाग़ में खयाल तक नहीं। ये लोग एक दूसरे मालिक को बुलाते हैं और उससे अपनी स्थिति को सुधारने की प्रार्थना करके अपने को उसके हाथों में सौंप देते हैं। अंगरेज़ लोग आकर देखते हैं कि इन लोगों पर शासनाधिकार मिल जाने से वे अपनी जाति के आवश्यकता से अधिक बढ़े हुए निकम्मे जीवों के भरण-पोषण का प्रबन्ध कर सकेंगे और इसलिए वे इन द्वीपों और उनके अधिवासियों को अपने अधिकार में ले लेते हैं।

किन्तु इंग्लैंड उन्हें गुलामों के रूप में नहीं लेता, उनकी ज़मीन को भी यह अपने कर्मचारियों में बाँट नहीं देता। इन पुरानी पद्धतियों की अब ज़रूरत नहीं, अब केवल एक बात की ज़रूरत है—टैक्स लगने चाहिएँ और ऐसे पर्याप्त परिमाण में कि एक ओर तो किसानों को व्यावहारिक दासता के पाश से मुक्त न होने दें और दूसरी ओर बहुत से निकम्मे जीवों के लिए मज़े में जीवन व्यतीत करने का प्रबन्ध किया जा सके। फ़िज़ी-निवासियों को प्रति वर्ष सत्तर हज़ार पौंड अदा करने चाहिएँ—यह खास शर्त है, जिस पर इंग्लैण्ड फ़िज़ी-निवासियों को अमेरिकन अत्याचार से बचाने के लिए राज़ी होता है और फ़िज़ी के लोगों को पूर्ण रूप से दासता के पाश में आबद्ध करने के लिए बस एक इसी बात की कमी रह गई थी। किन्तु स्थिति कुछ ऐसी है कि फ़िज़ी द्वीपवाले ये सत्तर हज़ार पौंड किसी हालत में नहीं दे सकते, उनके लिए यह माँग बहुत बड़ी है।

अंग्रेज कुछ काल के लिए अपनी माँग पर जोर न देकर प्राकृतिक उपज का ही कुछ अंश लेकर चुप रहते हैं, ताकि जब रुपये का चलन हो जाय तो वह पूरी रक़म वसूल कर सकें। वे पहली कम्पनी की तरह व्यवहार नहीं करते—उस कम्पनी के व्यवहार को किसी देश में जंगली आक्रमणकारिणी के प्रथम आगमन के समान कहा जा सकता है, जब उनका मतलब सिर्फ इतना होता है कि जो कुछ मिले वह लूटकर चलते बनें। परन्तु इंग्लैण्ड का व्यवहार दूरदर्शी गुलाम बनानेवाले आदमी का सा होता है। वह सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी को एक बार ही मार नहीं डालता बल्कि वह उसे पालता है, ताकि वह बराबर अण्डे देती रहे। इंग्लैण्ड पहले अपने मतलब को ढीला छोड़ देता है ताकि बाद को इन लोगों से खूब कसकर काम निकाल ले। इस प्रकार बेचारे फिज़ी के लोगों को उसकी गुलामी के उस फन्दे में ला फँसाया कि जिसमें समस्त यूरोपियन जाति इस समय फँसी हुई है और जिसमें से उनके निकलने की कोई सूरत भी नहीं दिखाई देती।

यही बात अमेरिका, चीन और मध्य-एशिया में होती है और सभी विजित जातियों के इतिहास में ऐसी ही घटना पाई जाती है। रुपया विनिमय का एक निर्दोष साधन है, किन्तु उसी हालत में कि जब उसे वसूल करने के लिए निरीह निःशस्त्र लोगों के ऊपर तोपें नहीं लगाई जातीं। किन्तु ज्योंही रुपया इकट्ठा करने के लिए तोपों और बन्दूकों का प्रयोग किया जायगा, तो जो कुछ फिज़ी में हुआ वह अनिवार्य रूप से होकर रहेगा और ऐसा ही सदा-सर्वत्र हुआ है।

जो लोग यह समझते हैं कि दूसरों के श्रम का उपभोग करना उनका उचित अधिकार है, वलपूर्वक रुपया माँगकर अपना मतलब बनायेंगे और रुपये की इस माँग के द्वारा ही अत्याचारी लोग वेचारे दीन लोगों को गुलाम बनाने के लिए मजबूर करते हैं। इसके अलावा आततायी लोग जितना रुपया जमा हो सकता है उससे सदा ही अधिक माँगेंगे, जैसा कि इंग्लैंड और फिजी के सम्बन्ध में हुआ; और यह अधिक रुपया इसलिए माँगा जाता है, जिससे गुलाम वनाने की क्रिया जल्दी ही पूरी हो जाय। रुपये की माँग को उस समय तक अवश्य सीमा के अंदर रक्खा जाता है, जबतक कि उनके पास पर्याप्त धन और नैतिक भाव रहता है; जब इस नैतिक भाव का ह्रास हो जायगा, अथवा रुपयों की ज़रूरत होगी, तो फिर इस सीमा की पर्वाह न की जायगी। रही सरकारों की बात; सो ये तो सदा ही सीमा से अधिक माँग करती हैं, क्योंकि एक तो सरकारों के लिए न्याय-अन्याय जैसी कोई नैतिक भावना ही नहीं होती, और दूसरे जैसा कि सभी जानते हैं, युद्धों के कारण तथा मित्रों को देने के लिए इन्हें रुपयों की सदा ही जरूरत रहती है। सभी सरकारें दीवालिया होती हैं और अठारवीं शताब्दी के एक रूसी राजनीतिज्ञ के इस कथन के अनुसार ही व्यवहार करती है—"किसान के ऊन को काट ही लेना चाहिए ताकि कहीं वह बहुत ज्यादा न बढ़ जाय।" सभी हुकूमतें बुरी तरह कर्जदार होती हैं, और प्रायः कर्ज की यह रफ्तार भयंकर गति से बढ़ रही है। इसी तरह बजट अर्थात् व्यय-सूची भी बढ़ जाती है, और इसका परिणाम यह होता है कि दूसरे आततायियों से झगड़ने और अपने आततायियों

को पारतोषिक देने की विशेष आवश्यकता होती है और इसके कारण जमीन के लगान में वृद्धि होती है।

मजदूरी में वृद्धि नहीं होती और वह लगान के क़ानून के कारण नहीं बल्कि जबरदस्ती वसूल किये जानेवाले करों के कारण, जिनका अस्तित्व ही केवल इसलिए होता है कि मनुष्यों के पास कुछ रहने न पावे, ताकि मालिकों को सन्तुष्ट करने के लिए वे अपने को मेहनत करने के लिए बेंच डालने पर मजबूर हों—टैक्सों के लगाने का उद्देश्य यह होता है कि मजदूरों की मजदूरी का उपभोग किया जा सके।

मजदूरों का मजदूरी का उपभोग उसी हालत में किया जा सकता है कि साधारणतः जो कर लगाये जायँ वे इतने बड़े होने चाहिएँ कि मजदूर अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद उन्हें प्रदान कर पायँ। यदि मजदूरी में वृद्धि हो तो मजदूर के आगे चलकर दास बन जाने की सम्भावना ही नहीं रहती, इसलिए जबतक जबरदस्ती का दौर-दौरा रहेगा तबतक मजदूरी में वृद्धि कभी हो ही नहीं सकती। कुछ लोग दूसरे लोगों के साथ स्पष्ट खुले ढंग से जो अन्याय करते हैं, उसे अर्थशास्त्रज्ञ लोहे के नियम के नाम से पुकारते हैं; तथा जिस औजार के द्वारा अन्याय किया जाता है, उसे ये लोग विनिमय-साधन कहते हैं और यह निर्दोष विनिमय-साधन, जो मनुष्यों के पारस्परिक व्यापार के लिए आवश्यक है, और कुछ नहीं, रुपया ही है।

तब फिर ऐसा क्यों है कि जहाँ जबरदस्ती लगान रुपयों में वसूल नहीं किया जाता वहाँ रुपया अपने वास्तविक अर्थ में कभी

होता ही नहीं और न कभी हो ही सकता है; बल्कि या तो भेड़, अनाज, खाल आदि पदार्थों का परस्पर विनिमय होता है या सीप, घोंघे-जैसी किसी भी चीज़ को समयानुसार मूल्य-निर्णायक मान लेते हैं, जैसा कि फिज़ी-निवासियों में, फ़िनीशियनों में, किरघियों में होता है और जैसा कि प्रायः उन लोगों में होता है कि जो आफ्रिकनों की तरह टैक्स नहीं देते।

जहाँ कहीं भी किसी निश्चित प्रकार का सिक्का प्रचलित होता है तो वह विनिमय का साधन नहीं रहता बल्कि ज़बरदस्ती से पिण्ड छुड़ाने का उपाय बन जाता है और उस सिक्के का प्रचार लोगों में तभी होता है, जब कि सभी से किसी नियमित परिणाम में वह वसूल किया जाता है। तभी सब लोग एकसाँ उसको प्राप्त करने के लिए उत्सुक होते हैं और तभी उसकी कोई क़दर और क़ीमत होती है।

एक बात यह भी है कि विनिमय के लिए जो सरल और उपयोगी चीज़ है उसीको विनिमय की शक्ति अथवा मूल्य प्राप्त नहीं हो जाता; बल्कि विनिमय का साधन वही पदार्थ बनता है और उसीको विनिमय-शक्ति प्राप्त होती है कि जिसे सरकार चाहती है। यदि सोने की माँग होती है, तो सोना क़ीमती होता है; और यदि घुटने की हड्डियाँ माँगी जाने लगें, तो वे मूल्यवान बन जायँ। यदि यह बात नहीं है, तो विनिमय के साधनों को सरकार सदा अपनी ही ओर से जारी रखने का अधिकार क्यों रखती है? उदाहरणार्थ फ़िजी-निवासियों ने अपना एक निज का विनिमय-साधन निश्चित कर लिया है। वे जिस तरह चाहते हैं उस तरह विनिमय करने की स्वतंत्रता उन्हें मिलनी चाहिए और

तुम लोग जो बल या अत्याचार करने के साधन रखते हो, उनके विनिमय में हस्तक्षेप न करो। किन्तु इसके बजाय तुम खुद सिक्के बनाते हो, किसी दूसरे को ऐसा करने नहीं देते, या जैसा कि हम लोगों के यहाँ है, तुम लोग केवल कुछ नोट छापते हो, उसपर ज़ार का सिर बनाकर एक विशिष्ट प्रकार का हस्ताक्षर कर देते हो और धमकी देते हो कि यदि कोई जाली नोट बनायगा तो सख्त सज़ा पायगा। इसके बाद अपने कर्मचारियों में तुम उन्हे वितरित कर देते हो और यह चाहते हो कि प्रत्येक आदमी लगान और मालगुज़ारी आदि के रूप में तुम्हें इस प्रकार के सिक्के अथवा नोट दें, जिनपर एक विशिष्ट प्रकार के हस्ताक्षर हों, और वे इतनी संख्या में दिये जायँ कि इन सिक्कों अथवा नोटों को प्राप्त करने के लिए वह अपनी सारी मेहनत और मज़दूरी को बेचने पर मजबूर हो जाय और यह सब करने के बाद तुम हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हो कि रुपया विनिमय-साधन के रूप में हमारे लिए आवश्यक है।

समाज के सब लोग सुखी और स्वतंत्र हैं; कोई किसी को न सताता और न किसी को गुलामी में रखता है। किन्तु समाज में रुपये का आविर्भाव होता है और तुरन्त ही लोहे का-सा कड़ा नियम बनता है, जिसके परिणाम-स्वरूप लगान की वृद्धि होती है और मज़दूरी यथासम्भव कम हो जाती है। रूस के आधे बल्कि आधे से अधिक किसान तरह-तरह के कर अदा करने के लिए स्वेच्छापूर्वक अपने को ज़मींदारों अथवा कारखानेवालों के हाथ बेच डालते हैं, क्योंकि मनुष्य कर तथा अन्य प्रकार के करों को चुकाने के लिए उन्हें मजबूर होकर उन लोगों के पास

आना पड़ता है कि जिनके पास रुपया है और उनकी आज्ञा-नुसार उन्हें उनकी गुलामी करनी पड़ती है। यही इस रुपये का खेल है।

जब गुलामी की प्रथा बन्द नहीं हुई थी तो मैं आइवन को कोई भी काम करने के लिए मजबूर कर सकता था और उसके इनकार करने पर उसे पुलिस के हवाले कर देता, जहाँ वह मार-कर ठीक कर दिया जाता। किन्तु यदि मैं आइवन से शक्ति से अधिक काम कराता और उसे वस्त्र या भोजन न देता तो यह मामला अधिकारियों के पास जाता और मुझे उसके लिए जवाब देना पड़ता।

किन्तु अब, जब कि गुलामी उठ गई है, मैं आइवन, पीटर या साइडर से कोई भी काम करा सकता हूँ, और यदि वे इनकार करें, तो मैं लगान अदा करने के लिए उन्हें रुपया नहीं देता और तब उनपर कोड़े पड़ते हैं। इस प्रकार वे मेरी बात मानने को बाध्य होते हैं। इसके अतिरिक्त मैं जर्मन, फ्रान्सीसी, चीनी तथा हिन्दुस्थानी को भी इसी साधन के द्वारा अपना काम करने के लिए मजबूर कर सकता हूँ। यदि वे राज़ी नहीं होते तो मैं ज़मीन किराये पर लेने के लिए या भोजन ख़रीदने के लिए उन्हें रुपया नहीं दूँगा। चूँकि उनके पास ज़मीन और भोजन कुछ भी नहीं है, उन्हें मजबूर होकर मेरे पास आना पड़ेगा। यदि मैं उनसे शक्ति से अधिक काम कराऊँ, यहाँ तक कि अधिक काम ले-लेकर मैं उन्हें मार भी डालूँ, तब भी कोई मुझसे एक शब्द भी नहीं कह सकता, और जो कहीं मैंने राजनैतिक अर्थ-शास्त्र की किताबें पढ़ली हैं, तब तो, फिर मुझे

पूर्ण विश्वास हो जाता है कि सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं और रुपया गुलामी का कारण नहीं है ।

हमारे किसान बहुत दिनों से जानते हैं कि मनुष्य लकड़ी की अपेक्षा रुपये से अधिक चोट पहुँचा सकता है। यह तो अर्थ-शास्त्र के धुरन्धर ज्ञाता लोग ही हैं कि जो इस बात को नहीं समझते ।

रुपया गुलामी पैदा नहीं करता, यह कहना ऐसा ही है कि जैसे पचास वर्ष पहले कोई यह दावा करता कि 'सर्फेला' गुलामों का क़ायदा गुलामी का बिलकुल ही कारण न था। अर्थ-शास्त्री कहते हैं कि रुपया विनिमय का एक निर्दोष साधन है, हालाँकि वे देखते हैं कि रुपया होने से मनुष्य दूसरे को अपने वश में कर लेता है, उसे गुलाम बना सकता है। यही क्यों ? अर्ध-शताब्दी पहले इसी तरह, क्या यह नहीं कहा जाता था कि गुलामी तो पारस्परिक सेवा का एक निर्दोष प्रबन्ध है। गुलामी के क़ायदे के अनुसार कोई भी मनुष्य किसी को अपना गुलाम बना ले तो क्या हुआ ! यह तो एक पारस्परिक समझौता है। कुछ लोग शारीरिक श्रम करते हैं और दूसरे लोग अर्थात् मालिक अपने गुलामों के शारीरिक तथा मानसिक हितों का ख़याल रखते हैं और उनके काम का निरीक्षण करते हैं। क्या ताज्जुब कि किसी ने ऐसा कहा भी हो ?

१२

यदि अन्य क़ानूनी विज्ञानों की तरह अर्थ-शास्त्र का भी यह उद्देश्य न होता कि समाज में होनेवाले अन्याय-अत्याचार का समर्थन किया जाय, तो अर्थ-शास्त्र यह देखे बिना न रहता कि द्रव्य का वितरण, कुछ लोगों को ज़मीन और पूँजी से वञ्चित कर देना और कुछ लोगों का दूसरों को अपना गुलाम बना लेना—ये सब विचित्र बातें पैसे ही की वजह से होती हैं और पैसे ही के द्वारा कुछ लोग दूसरे लोगों की मेहनत का उपभोग करते हैं—उन्हें गुलाम बनाते हैं।

मैं फिर दोहराता हूँ, जिसके पास पैसा है वह सारा अनाज ख़रीदकर अपने स्वत्वाधिकार में ला सकता है और चाहे तो अन्य लोगों को तरसा-तरसाकर भूखों मार सकता है, जैसा कि बड़े परिणाम में प्रायः हमारी आँखों के आगे होता है। यह देखकर किसी के भी मन में यह भावना उठ सकती है कि इन विचित्र घटनाओं के साथ पैसे का क्या सम्बन्ध है, इसे खोजना चाहिए। किन्तु अर्थ-शास्त्र पूर्ण विश्वास के साथ यह घोषित करता है कि इस मामले से पैसे का किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

अर्थ-विज्ञान कहता है—पैसा भी अन्य चीज़ों की तरह एक प्रकार का माल है, जिसका मूल्य पैदावार पर निर्भर रहता है: अन्तर केवल इतना है कि मूल्य निर्धारित करने, सञ्चित करने और दूसरी चीज़ों की क़ीमत चुकाने के लिए सरल और अनु-

कूल साधन होने के कारण इसे ही विनिमय-साधन के रूप में पसन्द किया गया है। एक आदमी जूते बनाता है, दूसरा अन्न पैदा करता है, तीसरा भेड़-बकरियाँ पालता है; और ये सब लोग अपनी चीजों को सरलता-पूर्वक अदला-बदली करने के लिए रुपया पैसा जारी करते हैं, जो परिश्रम के पारितोषिक के रूप में ग्रहण किया जाता है, और इस विनिमय-साधन के द्वारा वे जूतों को माँस के टुकड़े से अथवा दस सेर आटे से बदल सकते हैं।

इस काल्पनिक विज्ञान के अनुयायी अपने समक्ष ऐसी अवस्था को चित्रित करने के अभ्यस्त और उत्सुक हैं, किन्तु संसार में ऐसी अवस्था कभी हुई ही नहीं। समाज की अवस्था की यह कल्पना दार्शनिकों के उस आदिम अज्ञात् मानव-समाज की कल्पना के समान है कि जहाँ वे मनुष्य को परिपक्व, परिपूर्ण, दोष-त्रुटि-हीन अवस्था को प्राप्त हुआ मानते हैं। किन्तु ऐसी अवस्था का कभी अस्तित्व नहीं था।

मानव-समाज में जहाँ कहीं भी रुपये का चलन हुआ है वहाँ सशक्त और सशस्त्र लोगों ने दुर्बल और निस्सहाय लोगों को सताया भी है और जहाँ कहीं भी अन्याय और अत्याचार हुआ है वहाँ मजदूरी या माल के मूल्य-स्वरूप पैसा अथवा पशु, खाल, धातु, आदि जो कुछ भी रहा हो वह वस्तु-विनिमय का साधन न रहकर दूसरों के बलात्कार से अपने को बचाने का साधन बन जाता है; उस पैसे अथवा पदार्थ का प्रायः यही उपयोग होता है कि उसे देकर अत्याचारी के हाथ से किसी प्रकार अपनी जान बचाई जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान पैसे में जिन निर्दोष गुणों का समावेश बताता है, वे उसके अन्दर मौजूद हैं, किन्तु ये गुण वहीं क़ायम रह सकते हैं, जहाँ ज़ोर-ज़ुल्म और बलात्कार न हो, जहाँ एक आदर्श समाज की स्थापना हो। किन्तु ऐसे आदर्श समाज में मूल्य-निर्णायक के रूप में पैसे का अस्तित्व ही न होगा। क्योंकि जहाँ सर्व-साधारण पर राज्य की ओर से अत्याचार नहीं होता वहाँ न तो पहले कभी पैसे का अस्तित्व था और न अब हो सकता है। पैसे का मुख्य उद्देश्य वस्तु-विनिमय का नियत साधन बनना नहीं बल्कि अन्याय और अत्याचार को आश्रय देना मात्र है। जहाँ अन्याय और अत्याचार है वहाँ विनिमय के नियत साधन के रूप में पैसे का उपयोग नहीं हो सकता। क्योंकि वह मज़दूरी या माल की क़ीमत का ठीक एवज़ नहीं बन सकता। और क़ीमत का एवज न बन सकने का कारण यह है कि जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की मेहनत को ज़बरदस्ती छीन सकता है, तो फिर मूल्य-निर्णायक जैसी कोई वस्तु ही नहीं रह सकती।

किसी आदमी के पाले हुए घोड़े, गाय अथवा अन्य पशु दूसरे आदमियों द्वारा छीन लिये जायँ और वे बाज़ार में बेचने के लिए लाये जायँ और इन चुराये हुए घोड़े, गाय आदि के मुक़ाबले में दूसरे घोड़े और गाय आदि पशु भी बराबर मूल्य पर बेचे जायँ, तो यह स्पष्ट है कि इनका मूल्य इन पशुओं के पालने की मेहनत के बराबर कभी नहीं होगा। इस परिवर्तन के साथ ही दूसरी चीज़ों के मूल्य पर भी असर पड़ेगा और उनमें भी परिवर्तन हुए बिना न रहेगा, और इस प्रकार पैसा मूल्यों का निर्णय न कर सकेगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई आदमी गाय

या घोड़े को ज़बरदस्ती छीन सकता है तो वह ख़ुद रुपये को भी इसी प्रकार बलपूर्वक प्राप्त कर सकता है और इस रुपये के द्वारा वह सभी चीज़ों को ख़रीद सकता है। जब रुपया ख़ुद बल-पूर्वक प्राप्त किया जाता है और वह चीज़ें ख़रीदने के काम में आता है, तो उसमें विनिमय-साधन का कोई गुण ही नहीं रहता।

जो अत्याचारी रुपया छीनकर दूसरों की मेहनत से पैदा की हुई चीज़ों के बदले में उसे देता है, वह तो बदले में कुछ देता ही नहीं—वह जो कुछ चाहता है मेहनत करनेवालों से उसे मिल जाता है।

अच्छा, थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि इस प्रकार की असम्भव और काल्पनिक अवस्था का वास्तव में कहीं पर अस्तित्व है कि जहाँ बलात्कार नहीं है और रुपये का चलन है। सोने अथवा चाँदी का मूल्य-निर्णायक तथा विनिमय-साधन के रूप में प्रयोग होता है। इस समाज में जो कुछ बचत होती है वह रुपये के रूप में रहती है। विजेता के रूप में किसी अत्याचारी का समाज में प्रवेश होता है। मान लीजिए यह अत्याचारी विजेता लोगों के घोड़ों, कपड़ों, मकानों और गो-धन पर अपना अधिकार बताता है, किन्तु चूँकि इन सब चीज़ों को लेकर अपने पास रखना असुविधाजनक है, इसलिए वह उस रुपये-पैसे को लेने की इच्छा करता है कि जो इन लोगों के सब प्रकार के मूल्यों का प्रतिनिधि समझा जाता है और जिसके द्वारा सब प्रकार की चीज़ें प्राप्त की जा सकती हैं। ऐसा होते ही इस समाज में विजेता और उसके सहकारियों के लिए रुपया एक दूसरे ही अर्थ का बोधक हो जाता है। अभी तक वस्तु-विनिमय के साधन की सी जो ख़ासियत उसमें थी, वह जाती रहती है।

किस चीज का कितना मूल्य होना चाहिए इसका निर्णय सदा शक्तिशाली ,अत्याचारी की इच्छा पर निर्भर रहता है। जिन चीज़ों की उसे सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है और जिनके लिए वह अधिक रुपया देता है, वही अधिक मूल्यवान समझी जाती हैं, और जिनकी ज़रूरत उसे नहीं होती, वे कम मूल्य की गिनी जाती हैं। जिस समाज में अत्याचार का प्रभाव हो जाता है, वहाँ रुपये का वास्तविक अर्थ तुरन्त ही व्यक्त हो जाता है, अर्थात् वह अत्याचार करने और अत्याचार से बचने का साधन बन जाता है और अत्याचार-पीड़ित विजित लोगों में रुपया विनिमय का साधन उसी हद तक रहता है कि जहाँ तक अत्याचारी को उसे ऐसा बनाये रखने में सरलता और सुविधा होती है।

कल्पना कीजिए—किसान लोग अपने ज़मींदार को कपड़ा मुर्गी, मुर्गे, भेड़, बकरियाँ, लाकर देते हैं और उनके लिए रोज मेहनत-मजदूरी करते हैं। ज़मींदार इन चीजों के बजाय रुपया लेना स्वीकार करते हैं और चीजों का मूल्य निर्धारित कर देते हैं। जिन लोगों के पास कपड़ा, अनाज, पशु देने को नहीं हैं, या जो शारीरिक सेवा नहीं कर सकते हैं, वे एक निश्चित रकम अदा कर सकते हैं।

यह स्पष्ट है कि इस ज़मींदार के कृषक-समाज में विविध वस्तुओं का मूल्य ज़मींदार की इच्छा पर ही निर्भर रहेगा। उसकी आवश्यकतानुसार चीज़ों का मूल्य कम या अधिक होगा। यदि उसे नाज की जरूरत है तो वह उसका मूल्य अधिक रक्खेगा और कपड़े, पशु या शारीरिक सेवा का कम। इसलिए जिनके पास

नाज नहीं होगा वे नाज खरीदकर ज़मींदार को देने के लिए अपना श्रम, कपड़ा और पशु दूसरों के हाथ बेच डालेंगे।

यदि सभी चीज़ों के बदले ज़मींदार रुपया लेना पसन्द करे तब भी चीज़ों का मूल्य मेहनत को देखकर निश्चित न होगा, बल्कि उसका निश्चय निर्भर रहेगा एक तो ज़मींदार-द्वारा माँगी हुई रक़म पर और दूसरे किसान-द्वारा पैदा किये हुए उन पदार्थों पर जिनकी ज़मींदार को ज्यादा ज़रूरत होगी और जिनके लिए वह अधिक मूल्य देने को तैयार है।

ज़मींदार किसानों से जो रुपया माँगता है उसका असर चीज़ों की कीमत पर उसी हालत में नहीं पड़ेगा कि जब उस-ज़मींदार के किसान दुनिया के दूसरे लोगों से एकदम अलहदा होकर रहें और उनका दूसरे लोगों से कोई सम्बन्ध न हो, और दूसरे उस हालत में, जब ज़मींदार रुपये से अपने गाँव में यहीं, दूसरी जगह चीज़ें खरीदें। इन्हीं दो अवस्थाओं में चीज़ों की कीमत वस्तुतः अपरिवर्तित रह सकेगी और रुपया मूल्य-निर्णायक और विनिमय-साधन बन जायगा।

किन्तु यदि इन किसानों का पड़ोस के गाँववालों से कोई व्यापार-सम्बन्ध होगा तो अपने पड़ोस के गाँववालों के हाथ बेची जानेवाली चीज़ों का मूल्य उस गाँव के ज़मींदार-द्वारा माँगी हुई रकम के अनुसार होगा। यदि पड़ोस के गाँव के लोगों का अपने ज़मींदार को इस गाँव के लोगों की अपेक्षा कम रक़म देनी होती है, तो इस गाँव की पैदावार दूसरे गाँव की पैदावार की अपेक्षा सस्ती बिकेगी, और यदि दूसरे गाँववालों को ज्यादा रकम देनी पड़ती है, तो इस गाँव की पैदावार वहाँ महँगी बिकेगी।

चीज़ों की क़ीमत पर ज़मींदार की रुपये की माँग का असर भी उसी हालत में नहीं पड़ेगा कि जब जमा की हुई रक़म अपने आसामियों की चीज़ें ख़रीदने में ख़र्च न हो। यदि वह अपने कृषकों से ख़रीदेगा, तो यह स्पष्ट है कि विभिन्न पदार्थों का मूल्य बराबर बदलता रहेगा। ज़मींदार जिस चीज़को ज्यादा चाहेगा और ख़रीदेगा उसीका मूल्य अधिक बढ़ जायगा।

एक ज़मींदार ने अपने गाँव के लोगों पर भारी मनुष्य-कर लगाया है और उसके पड़ोसी ने बहुत हलका। यह स्वाभाविक है कि पहले ज़मींदार की जागीर में दूसरे के गाँव की अपेक्षा प्रत्येक चीज़ सस्ती होगी, क्योंकि वहाँ लोगों को रुपये की बहुत ज़रूरत होती है; और दोनों ही रियासतों में मनुष्य-कर की वृद्धि अथवा कमी के ऊपर चीज़ों की क़ीमत निर्भर रहेगी। बलात्कार अथवा ज़बरदस्ती का चीज़ों के मूल्य पर एक यह असर पड़ता है।

पहले के परिणाम-स्वरूप एक दूसरा असर भी होता है और वह चीज़ों के सापेक्ष मूल्य से सम्बन्ध रखता है। फ़र्ज़ कीजिए एक ज़मींदार घोड़ों का शौक़ीन है और उनके लिए बड़ी बड़ी क़ीमतें देता है, दूसरे को तौलियों अँगोछों का शौक़ है, और वह अँगोछों के लिए अच्छा मूल्य देता है। अब यह तो स्पष्ट ही है कि इन दोनों रियासतों में घोड़े और अँगोछे महँगे होंगे और उनका मूल्य अपेक्षाकृत गाय अथवा नाज के मूल्य से कहीं ज्यादा होगा। यदि कल अँगोछों का शौक़ीन ज़मींदार मर जाय और उसके उत्तराधिकारियों को मुर्गे-मुर्गियों का शौक़ हो तो यह स्पष्ट है कि अँगोछों की क़ीमत कम हो जायगी और मुर्गे-मुर्गियों की बढ़ जायगी।

समाज में जहाँ एक मनुष्य दूसरे के ऊपर बलात्कार करता है वहाँ पैसा माल या मेहनत के मूल्य-स्वरूप कितने अंशों तक रहेगा, यह एकदम अत्याचारी की इच्छा के ऊपर निर्भर रहता है; और विनिमय का साधन बनने की इसकी योग्यता नष्ट होकर दूसरों की मेहनत से लाभ उठाने का एक अत्यन्त अनुकूल और सुविधा-जनक साधन हो जाता है। अत्याचारी को पैसे की न तो विनिमय के लिए ज़रूरत पड़ती है, क्योंकि वह जो चाहता है बदले में कुछ दिये बिना ही ले लेता है,—और न चीज़ों के मूल्य निर्णय के रूप में उसे पैसे की आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं ही प्रत्येक पदार्थ का मूल्य निर्धारित करता है। उसे पैसे की ज़रूरत होती है केवल इसलिए कि दूसरों पर अत्याचार करने का बड़ा ही अच्छा सुविधा-जनक साधन बन जाता है और यह सुविधा इस बात में है कि रुपया-पैसा खूब इकट्ठा किया जा सकता है और इसके द्वारा अधिकांश मानव-समाज को गुलाम बनाकर रक्खा जा सकता है।

अपने को जिस समय जितने घोड़े, गाय, भेड़ चाहिएँ उतने उसी समय मिल सकें, इसके लिए इन सभी जानवरों को लेकर अपने पास रखना सुविधा-जनक नहीं है; क्योंकि उन्हें चारा देना पड़ता है। नाज में भी यही बात है, क्योंकि उसके सड़-गल जाने की सम्भावना है। गुलामों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है, किसी समय मनुष्य को हज़ारों की ज़रूरत हो सकती है और किसी समय एक की भी नहीं। किन्तु जिनके पास रुपया नहीं है उनसे रुपया माँगने से ये सब असुविधायें दूर हो जाती हैं; और जिस चीज़ की ज़रूरत हो वह भी मिल सकती है। इसीलिए

अत्याचारी रुपया माँगता है। इसके अतिरिक्त रुपया माँगने में एक यह भी सुविधा है कि दूसरे मनुष्यों के परिश्रम से लाभ उठाने का उसका अधिकार कुछ थोड़े से मनुष्यों तक ही परिमित नहीं रहता, बल्कि जिस किसी को भी रुपये की जरूरत हो उन सभी तक व्याप्त हो सकता है।

जब रुपये का चलन न था तो प्रत्येक जमींदार केवल अपने ही आसामियों की मेहनत का लाभ ले सकता था; किन्तु जब वह मिलकर किसानों से रुपया माँगने लगे, जो उनके पास नहीं था, तब बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के सभी राज्यों के आदमियों के परिश्रम का उपभोग करने में समर्थ बन गये। इस प्रकार लोगों की मजदूरी के फल को रुपये के रूप में लेने से उन्हें बड़ी सुविधा होती है और केवल इसीलिए रुपया चाहा जाता है।

जिन ग़रीब दुःखी लोगों से रुपया लिया जाता है, उनके लिए वह न तो विनिमय में काम आता है, क्योंकि वे तो बिना पैसे के ही चीजों को अदला-बदली कर लेते हैं, जैसा कि राज-सत्ता की स्थापना के पहले सभी जातियाँ करती थीं; न चीज़ों का मूल्य निर्धारित करने के काम में, क्योंकि यह निर्णय तो उनसे पूछे बिना ही कर दिया जाता है; न संचय के काम में, क्योंकि जिस की पैदावार छीन ली जाती है उसके पास सञ्चय करने को कुछ रह ही नहीं जाता और न लेन-देन के काम में, क्योंकि अत्याचार-पीड़ित को लेने की अपेक्षा सदा देना ही अधिक पड़ता है; और यदि उसे कुछ मिलता भी है तो वह रुपये के रूप में नहीं बल्कि उसे कच्चा माल ही मिलता है। यदि मजदूर अपनी मेहनत के बदले में अपने मालिक की दूकान से चीजें लेता है, तब तो

उसे रुपया न मिल कर माल मिलता ही है और यदि वह अपनी कमाई से जीवन की आवश्यक सामग्री दूसरी दूकान पर खरीदने जाता है तो उससे फ़ौरन ही रुपया माँगा जाता है और उसे धमकी दी जाती है कि यदि रुपया अदा न करोगे तो न तुम्हें ज़मीन दी जायगी और न अन्न दिया जायगा; या फिर तुम्हारी गाय या घोड़ा छीन लेंगे, या तुमसे ज़बरदस्ती काम करायँगे और फिर तुम्हें जेल भेज देंगे। इस आफत से वह अपनी पैदावार और अपनी तथा अपने बच्चों की मेहनत बेचकर ही छुटकारा पा सकता है और यह भी साधारण विनिमय के निश्चित मूल्य पर नहीं बल्कि पैसा माँगनेवाली सत्ता-द्वारा निश्चय किये हुए मूल्य पर उसे बेचनी पड़ेगी।

इस स्थिति में कि जब लगान और कर का प्रभाव चीज़ों के मूल्य पर पड़ता है—और जैसा कि सभी जगह होता है, ज़मींदारों के यहाँ छोटे पैमाने पर और राज्य में बड़े पैमाने पर, और राज्यों में जो मूल्य में हेर-फेर होते हैं उनके कारण तो हमें इतने स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं कि जैसे मदारी को, पर्दे के पीछे खड़ा देखकर कठपुतलियों के चलने-फिरने का कारण हर कोई समझ जाता है तब फिर ऐसी स्थिति में, यदि कोई दावा करे कि रुपया विनिमय का साधन और मूल्य निर्णायक है तो यह और कुछ नहीं तो कम से कम आश्चर्य-जनक तो है ही।



सब प्रकार की दासता का एकमात्र कारण यही है कि एक आदमी दूसरे आदमी की जान ले सकता है और जान लेने की धमकी देकर उसे अपनी इच्छानुसार काम करने पर मजबूर कर सकता है। हम निश्चयात्मक रूप से यह देख सकते हैं कि जब कोई आदमी इच्छा के विरुद्ध दूसरे आदमी की इच्छानुसार ऐसा काम करता है, जो उसी की रुचि के प्रतिकूल है, तो खोजने पर हमें मालूम होगा कि इसका मूल कारण और कहीं नहीं, किसी न 'किसी रूप में, इसी धमकी के अन्दर से उदीयमान होता है। यदि एक आदमी अपनी सारी कमाई दूसरे को दे देता है, उसके पास खाने तक को नहीं रहता, अपने बच्चों को सख्त मेहनत करने के लिए भेजता है, खेतों को बिना जोते पड़ा रहने देता है और अपना सारा जीवन घृणित अनावश्यक काम करने में व्यतीत करता है, जैसा कि दुनियाँ में हमारी आँखों के आगे ही होता है—इस दुनिया में जिसे हम सभ्य कहते हैं, सिर्फ इसलिए कि हम उसमें रहते हैं—तब हम यह सब देखकर निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह यह सब काम इसी-लिए करता है कि इन कामों को न करना जान से हाथ धोने के समान होगा।

हमारे इस सभ्य संसार में जहाँ अधिकांश लोग कठोर से कठोर कष्ट सहकर भी ऐसे काम करते हैं जो उन्हें पसन्द नहीं

और जिनकी उनको जरूरत नहीं, एक प्रकार की भयंकर दासता प्रचलित है, जिसका आधार लोगों का अस्तित्व मिटा डालने की धमकी है। अच्छा तो, यह दासता आई कहाँ से ? धमकी की शक्ति कहाँ छिपी हुई है ?

पुराने ज़माने में लोगों को पददलित करने के साधन और उन्हें मार डालने की धमकी—ये सब लोगों के लिए बिलकुल स्पष्ट और अविच्छिन्न रूप से प्रकट थे। लोगों को गुलाम बनाने का आदिम साधन सीधी-सादी भाषा में तलवार से मार डालने की धमकी देना था।

एक सशस्त्र मनुष्य निहत्थे आदमी से कहता है—देख, जैसे मैंने तेरे भाई को मार डाला वैसे मैं तुझे भी मार डाल सकता हूँ, लेकिन मैं ऐसा करना नहीं चाहता। मैं तेरी जान बख़्शता हूँ। एक तो इसलिए कि तुझे मारना मुझे अच्छा नहीं लगता, दूसरे तेरे और मेरे दोनों के लिए मैं तुझे मार डालूँ इसके बजाय यह बेहतर होगा कि तू मेरा काम किया करे। इसलिए मैं जो कुछ कहूँ उसे चुपचाप कर; नहीं तो, याद रख, मैं तुझे जीता न छोड़ूँगा।

इस प्रकार बेचारा दुर्बल मनुष्य सबल मनुष्य की बात मानने को मजबूर हुआ और उसका विनम्र आज्ञा-पालक बन गया। निहत्था आदमी मज़दूरी करता था और सशस्त्र खड़ा होकर धमकी देता था। यही वह व्यक्ति-गत दासता थी, जो पहले-पहल सभी जातियों में अस्तित्व में आई और जो अब भी जंगली जातियों में पाई जाती है।

दासता का प्रारम्भ तो इसी प्रकार की धमकी से होता है;

किन्तु जीवन जैसे जटिल होता जाता है, दासता का यह साधन भी परिवर्तित होता जाता है। जीवन की जटिलता के कारण यह तरीका अत्याचारी के लिए असुविधा-जनक हो उठता है। गुलामों से काम लेने के लिए उन्हें खिलाना-पिलाना पड़ता है, कपड़े देने पड़ते हैं, और उनके काम की निगरानी करनी पड़ती है, और इस-लिए उनकी संख्या थोड़ी ही रह जाती है। इसके अलावा ऐसा करने से मालिक को बराबर गुलामों के साथ रहना पड़ता है और मार डालने की धमकी दे-देकर उनसे काम कराना होता है और इसलिए लोगों को गुलाम बनाने की एक नई रीति निकाली गई।

पाँच हजार वर्ष पूर्व बाइबल के अनुसार लोगों को अपनी मुट्ठी में करने का यह नवीन सुविधा-जनक और चतुरता-पूर्ण-साधन 'सौन्दर्य–प्रतिमा' यूसुफ ने खोजकर निकाला था। आज-कल पशुशालाओं में जङ्गली जानवरों और अक्खड़ घोड़ों को सधाने में जो तरकीब काम आती है वह इससे मिलती-जुलती है। यह तरकीब भूखों मारने की है।

बाइबल (उत्पत्ति-प्रकरण ४१ पद ४८—५६) में इस तर-कीब का इस प्रकार वर्णन है:—

४८. और यूसुफ ने सातों वर्ष का मिस्र देश का नाज इकट्ठा किया और वह सारा नाज शहरों में जमा कर रक्खा; शहरों के चारों ओर के खेतों का जो नाज था वह भी शहरों में भर लिया।

४९. यूसुफ ने समुद्र की रेती की तरह नाज इकट्ठा किया; अन्त में उसने गिनती करना भी छोड़ा, क्योंकि वह बेशुमार था।

५३. इसके बाद मिस्र देश के सुकाल के सात वर्ष समाप्त हुए।

५४. और यूसुफ के कथनानुसार सात वर्ष का दुष्काल पड़ा।

सभी देशों में दुष्काल था, पर मिश्र भर में खाने को मौजूद था।

५५. फिर जब सारे मिश्र देश में खाने की कमी हुई तब लोगों ने फैरोआ के पास जाकर भोजन के लिए चिल्लाना शुरू किया, फैरोआ ने सब मिश्र-निवासियों से कहा—'यूसुफ़ के पास जाओ, वह जैसा कहे, वैसा करो।'

सारी पृथ्वी-भर में दुष्काल का जोर था, यूसुफ़ ने अपने सब कोठार खोल दिये और मिश्र-वासियों को नाज बेचने लगा। मिश्र देश में दुष्काल का खूब जोर था।

सभी देश के लोग मिश्र में यूसुफ़ के पास नाज खरीदने को दौड़े, क्योंकि सभी देशों में भयानक दुष्काल था।

तलवार की धमकी से लोगों को गुलाम बनाने की आदिम रीति का उपयोग करके दुष्काल के समय के लिए यूसुफ़ ने सुकाल में नाज इकट्ठा किया। फैरोआ के स्वप्न के अतिरिक्त सब लोग भी जानते हैं कि अच्छे सालों के बाद प्रायः दुष्काल पड़ता ही है। इस प्रकार भूख के द्वारा मिश्र के आस-पास के देशों के लोगों को युसूफ़ ने सरलतापूर्वक और निश्चित रूप से अपने तावे में कर लिया। फिर जब लोग भूखों मरने लगे तब उसने ऐसी तरकीब की, जिससे लोग सदा के लिए उसके कब्जे में रहें। (प्रकरण ४७ पद १३-२६ में इसका नीचे लिखे अनुसार वर्णन है।)

पीछे सारे देश में खाने को न रहा, क्योंकि दुष्काल भयंकर था। मिश्र तथा कनआँ भर में मुर्दनी-सी छा गई।

यूसुफ़ ने जो नाज बेचा था, उसके बदले में मिश्र तथा कनआँ में जितना रुपया था सब इकट्ठा कर लिया और यह सारा धन यूसुफ़ ने फैरोआ के घर में लाकर रक्खा।

जब मिस्र तथा कनआँ में रुपया न रहा, तो सब मिस्र-वासियों ने यूसुफ़ के पास आकर कहा—हमें खाने को दो। हमारे पास रुपया नहीं है, पर तुम्हारे होते हुए क्या हम भूखों मरेंगे?

यूसुफ़ ने कहा—तो तुम अपने पशु लाओ। द्रव्य नहीं रहा है, तो तुम्हारे पशु लेकर तुम्हें अनाज दूंगे।

तब लोग यूसुफ़ के पास अपने पशु ले गये और यूसुफ़ ने उनके घोड़े, गाय, बैल, भेड़, बकरे और गधे लेकर बदले में उन्हें अनाज दिया। और उसके सब पशु लेकर एक साल तक उन्हें अन्न दिया।

वर्ष समाप्त होने पर दूसरे वर्ष वे लोग यूसुफ़ के पास आये और कहने लगे—महाराज! हम आपसे कुछ छिपाना नहीं चाहते। हमारा द्रव्य समाप्त हो गया है और हमारे पशु भी बिक गये हैं। आप जानते हैं कि अब हमारे पास हमारे शरीर और हमारी जमीन के सिवाय और कुछ भी बाक़ी नहीं रहा।

क्या हम लोग तुम्हारी आँखों के सामने अपनी जमीन के साथ ख़त्म हो जायेंगे? हमें और हमारी जमीन को अन्न के बदले में ले लो, हम और हमारी जमीन फ़ैरोआ के वश में रहेगी। हमें बीज दो, जिससे हम जीवित रहें और जमीन उजाड़ न हो जाय।

यूसुफ़ ने मिस्र की सारी जमीन फ़ैरोआ के लिए ख़रीद ली। मिस्रवासियों में से हरएक ने अपने खेत बेच डाले। क्योंकि वे अकाल से पीड़ित हो रहे थे। बस, सारी जमीन फ़ैरोआ की मिल्कियत हो गई।

आदमियों के लिए उसने यह किया कि मिस्र के एक छोर से

लेकर दूसरे छोर तक के सब लोगों को शहरों में लाकर बसाया।

सिर्फ़ पुरोहितों की ज़मीन यूसुफ़ ने नहीं ख़रीदी। क्योंकि वह फ़ैरोआ की ओर से वृत्ति के रूप में दी गई थी और उसीसे वे अपनी गुज़र करते थे, इसलिए उन्होंने अपनी ज़मीन वेची नहीं।

तब यूसुफ़ ने लोगों से कहा—देखो, आज हमने तुम्हें और तुम्हारी भूमि को फ़ैरोआ के लिए ख़रीद लिया है। अब लो यह बीज, और ज़मीन जोतो बोओ। पर जब नाज पके तो फ़सल का पाँचवाँ भाग फ़ैरोआ को देना और शेष चार भाग तुम्हारे रहेंगे। इसमें से तुम बीज के लिए रख छोड़ना और अपना, अपने कुटुम्ब का तथा अपने बाल-बच्चों का भरण-पोषण करना।

लोगों ने कहा—तुमने हमें जीवन-दान दिया है। महाराज! हम पर कृपा-दृष्टि रक्खो, हम फ़ैरोआ के सेवक होकर रहेंगे।

यूसुफ़ का बनाया हुआ नियम मिश्र देश में आज तक जारी है कि ज़मीन की पैदावार का पाँचवाँ भाग फ़ैरोआ को मिलता है। केवल पुरोहितों की ज़मीन इस नियम से मुक्त है, क्योंकि वह फ़ैरोआ ने ख़रीदा नहीं थी।

इससे पहले लोगों की मजदूरी में लाभ उठाने के लिए फ़ैरोआ को उन पर अत्याचार और बलात्कार-द्वारा काम करना पड़ता था। पर अब तो ज़मीन और फसलें सभी पर फ़ैरोआ का अधिकार होने से केवल नाज के भण्डार को बलपूर्वक अपने अधीन रखने की ज़रूरत थी और फिर भूख उनसे सब काम करा लेती।

सारी ज़मीन फ़ैरोआ की हो गई और लोगों से वसूल किया हुआ नाज का भण्डार भी उसी के अधीन था, इस लिए प्रत्येक

मनुष्य से तलवार के भय से काम करवाने के बदले उसे केवल नाज को ही बल-पूर्वक अपने कब्जे में रखना था,—और,लोग तलवार से नहीं वरन् भूख से उसके गुलाम बनने लगे।

किसी वर्ष अकाल पड़े तो सभी लोगों को फैरोआ चाहे तो भूखों मार सकता है और सुकाल में भी जिसके पास किसी आकस्मिक घटना के कारण अन्न न हो वह भी भूखों मारा जा सकता है।

इस प्रकार गुलाम बनाने की दूसरी रीति स्थापित हुई। यह सीधे तलवार के बल पर नहीं, क्योंकि इसमें तो निर्बल को मौत का डर बताकर अपने लिए काम करने को बाध्य करना पड़ता है। इस रीति में बलवान मनुष्य सारा नाज अपने अधिकार में ले लेता है और उस पर सशस्त्र पहरा रखकर निर्बल मनुष्यों को भी अन्न-प्राप्ति के लिए काम करने को मजबूर करता है।

यूसुफ ने भूखे लोगों से कहा—मेरे पास अन्न है इसलिए मैं तुमको भूखों मार सकता हूँ। पर मैं तुमको इस शर्त पर बचा सकता हूँ कि मैं तुम्हें जो भोजन दूँ उसके बदले में तुम हमारा काम करो।

गुलाम बनाने की पहिला पद्धति में सत्ताधारी मनुष्य के पास केवल सशस्त्र सिपाहियों ही की जरूरत होती है, जो गाँव के लोगों पर अपना रोब जमाकर और मौत का डर दवाकर अपने मालिक की आज्ञा का लोगों से पालन कराते हैं।

पहली पद्धति में केवल अपने सैनिकों को ही दूसरों से अपहरण की हुई सम्पति में से भाग देना पड़ता है। किन्तु दूसरी पद्धति में अनाज के भण्डारों की तथा जमीन की मुहाफिजों ने रक्षा

करनेवाले सिपाहियों के अतिरिक्त अत्याचारी को अन्य प्रकार की मदद देनेवाले तथा अनाज को इकट्ठा करने तथा बेचने का काम करनेवाले अनेक छोटे-मोटे यूसुफों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए अन्यायी को अपनी उपज में से कुछ भाग इन लोगों को भी देना पड़ता है; यूसुफ को सुन्दर वस्त्र, सोने की अँगूठी, नौकर-चाकर तथा अनाज और उसके भाइयों तथा सगे सम्बन्धियों को सोना-चाँदी प्रदान करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दूसरी पद्धति में यह भी है कि केवल व्यवस्थापक तथा नौकर-चाकर ही उसमें भागीदार नहीं होते बल्कि स्थिति ही ऐसी होती है कि वे जिन किसी के पास भी अनाज भण्डार होता है वे सब अन्न-विहीन भूखे लोगों पर अन्याय करने में सम्मलित हो जाते हैं। पहली पद्धति में, जो नितान्त बल पर अवलम्बित है, प्रत्येक शस्त्रधारी मनुष्य निर्बलों और निःशस्त्र लोगों पर अन्याय करने में हिस्सा लेने लगता है। ठीक इसी तरह दूसरी पद्धति में, जो भूखों मारने की नीति पर अवलम्बित है, प्रत्येक मनुष्य, जिसके पास नाज भरा हुआ है, इस अन्याय-व्यापार में भागीदार बन जाता है और जिनके पास नाज नहीं होता उन पर हुकूमत करता है।

पहली पद्धति की अपेक्षा इस पद्धति में जुल्म करनेवालों को यह लाभ है कि (१) मजदूरों से अपनी इच्छानुसार काम करा लेने में विशेष श्रम नहीं करना पड़ता, मजदूर स्वयं ही आते हैं और अपने को उसके हाथों बेच डालते हैं; और (२) पहिलीपद्धति की अपेक्षा बहुत थोड़े मनुष्य उसके अन्याय-पाश से बच सकते हैं। इस दूसरी पद्धति में अत्याचारी की हानि सिर्फ इतनी ही है

कि पहली पद्धति की अपेक्षा इसमें अधिक लोगों को भाग देना पड़ता है।

इस दूसरी पद्धति में पीड़ित लोगों को लाभ यह है कि उन्हें सदा निरे पशु-बल के अधीन रहना नहीं पड़ता, इससे वे निश्चिन्त रहते हैं और दलित अवस्था में से निकलकर स्वयं अत्याचारी-वर्ग में सम्मिलित होने की आशा वे कर सकते हैं। अनुकूल अवस्था मिलने पर वे इस स्थिति को प्राप्त भी कर लेते हैं। उनके लिए खराबी यह है कि अन्याय में भाग लेने से वे कभी बच नहीं सकते, दरिद्र अवस्था में वे अन्याय-पीड़ित होंगे तो समृद्ध अवस्था में वे स्वयं दूसरों पर अन्याय करने लगेंगे।

गुलाम बनाने की यह नई पद्धति प्रायः पुरानी पशु-बलवाली नीति के साथ ही साथ काम में आती है। जैसी-जैसी उन्नति होती है वैसे-वैसे बलवान मनुष्य पहली पद्धति को संकुचित करता जाता है और दूसरी पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग करता जाता है। किन्तु सत्ताधारी को इस पद्धति से भी पूरा-पूरा सन्तोष नहीं होता, क्योंकि वह तो चाहता है कि अधिक से अधिक मजदूरों की मेहनत से जितना अधिक सम्भव हो लाभ उठाया जाय और जितने अधिक लोग बन सकें उन्हें गुलाम बनाया जाय। इसलिए एक तीसरी पद्धति का आविर्भाव होता है।

यह नई तीसरी पद्धति कर लगाने की है। दूसरी पद्धति के अनुसार यह भी भूखों मारने की नीति पर अवलम्बित है, परन्तु मनुष्यों से उनकी रोटी छीन लेने के बाद उन्हें गुलाम बनाने के लिए जीवन-सम्बन्धी दूसरी आवश्यकतायें भी अपहरण कर ली जाती हैं। बलवान मनुष्य अपने ही द्वारा बनाये हुए सिक्कों को

इतनी बड़ी संख्या में वसूल करता है कि इन सिक्कों को प्राप्त करने के लिए गुलामों को यूसुफ-द्वारा निश्चित पंचमांश अनाज की अपेक्षा कहीं अधिक नाज बेचना पड़ता है; और केवल इतना ही नहीं, बल्कि अपनी खास जरूरत की चीज़ें, मांस, चमड़ा, ऊन, कपड़ा, बरतन और मकान तक बेंच डालने पड़ते हैं। इस प्रकार अत्याचारी के भूख के डर से ही नहीं, बल्कि शीत, प्यास तथा अन्य प्रकार की आपत्तियों का डर दिखाकर अपने गुलामों को सदा अपने क़ब्जे में रख सकता है।

इस ढङ्ग से तीसरी तरह की गुलामी—पैसे की गुलामी अस्तित्व में आती है। इसमें सबल मनुष्य निर्बल से कहता है—तुम में से प्रत्येक मनुष्य के साथ मैं चाहूँ जैसा व्यवहार कर सकता हूँ। मैं तुम्हें बन्दूक से मार सकता हूँ, अथवा तुम्हारी आजीविका की देनेवाली तुम्हारी जमीन छीनकर तुम्हें नष्ट कर सकता हूँ, अथवा इसी रुपये से जो तुम मुझे दोगे मैं तुम्हारे खाने का सारा नाज खरीदकर और दूसरे लोगों के हाथ बेचकर तुम्हें भूखों मार सकता हूँ; मैं तुम्हारे वस्त्राभूषण, तुम्हारा घर-बार—ग़र्ज़ कि तुम्हारे पास जो कुछ है वह सभी छीन ले सकता हूँ। पर यह मेरे लिए अनुकूल नहीं है और ऐसा करना मुझे अच्छा भी नहीं लगता, इसीलिए मैं तुम्हें इस बात की स्वतंत्रता देता हूँ कि तुम जो चाहो काम करो, बस, तुम्हें इतना करना होगा कि मनुष्य-कर के रूप में, अथवा तुम्हारी ज़मीन के हिसाब से, या तुम्हारे खाने-पीने की चीज़ों अथवा वस्त्राभूषण या मकानों के लिहाज़ से मैं जितना रुपया माँगूँ, वह तुम मुझे दे दो। तुम यह रक़म अदा कर दो और फिर आपस

तुम जैसे चाहो रहो, जो चाहो सो करो, पर इस बात को समझ लो कि मैं न तो अनाथ-विधवाओं की रक्षा करूँगा, न बीमार और बूढ़े लोगों की, और न ऐसे लोगों की कि जिनका घर-बार आग से जल गया है। मैं तो सिर्फ़ इस बात की व्यवस्था करूँगा कि रुपये का लेन-देन ठीक तरह चलता रहे। जो लोग नियमित रूप से निश्चित रक़म मुझे देते रहेंगे, उनकी ही रक्षा करने की जिम्मेवारी मैं लेता हूँ। मुझे इस बात की पर्वाह नहीं कि लोग इस रुपये को कहाँ से और किस प्रकार लाते हैं।' अपनी माँग की स्वीकृति स्वरूप अन्यायी बलवान मनुष्य अपने बनाये हुए सिक्के लोगों में वितरण कर देता है।

गुलाम बनाने की दूसरी पद्धति ऐसी थी कि फैरोआ लोगों से फ़सल का पाँचवाँ भाग लेकर कोठों में भर रखता और तलवार-द्वारा प्राप्त हुई अंग-दासता के अतिरिक्त अपने व्यवस्थापकों की सहायता से अकाल पड़ने के समय सभी मज़दूरों पर और आकस्मिक आपत्ति पड़ने पर विपन्न लोगों पर: अपना शासन चलाता।

तीसरी पद्धति यह थी कि फैरोआ लोगों से लिये जानेवाले अनाज के पंचमांश के मूल्य से अधिक रुपया माँगता है और इस प्रकार अपने व्यवस्थापकों की सहायता से अकाल अथवा आकस्मिक दुर्घटनाओं के समय ही नहीं, बल्कि हमेशा के लिए मज़दूर-वर्ग पर अपना शासन चलाने का एक नया साधन पैदा करता है।

दूसरी पद्धति में लोग कुछ नाज बचा रखते हैं, जो अकाल अथवा आकस्मिक विपत्ति के समय उनकी सहायता करता है

और उन्हें गुलामी के जाल में फँसने से बचा लेता है। तीसरी पद्धति में कर की रक़म भारी हो तो सारा अनाज और साथ ही जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक चीजें भी बेचनी पड़ती हैं और इस कारण ज़रा-सा सङ्कट पड़ने पर मज़दूरों को पैसेवालों का गुलाम बनना पड़ता है, क्योंकि उनके पास न तो अनाज रह जाता है और न ऐसी कोई चीज़ ही शेष रहती है, जिसके बदले में अनाज प्राप्त किया जा सके।

पहली पद्धति में अत्याचारी को केवल सैनिकों की ही आवश्यकता होती है और उनको ही भाग देना पड़ता है। दूसरी पद्धति में अनाज के भण्डार के रक्षकों के अलावा अनाज को इकट्ठा करने और बेंचने का प्रबन्ध करने के लिए कर्मचारियों को भी रखना पड़ता है। तीसरी पद्धति में ज़मीन और जायदाद की रक्षा के लिए सिपाहियों को रखने के अतिरिक्त कर उगाहनेवालों, मनुष्य-कर का प्रबन्ध करनेवालों, निरीक्षकों, ज़कात का हिसाब रखनेवालों, रुपये बनाने और उसकी व्यवस्था करनेवाले कर्मचारियों की भी आवश्यकता होती है।

दूसरी पद्धति की अपेक्षा तीसरी पद्धति में व्यवस्था रखने का काम कहीं अधिक जटिल है। दूसरी पद्धति में तो नाज उगाहने का काम ठेके पर दिया जा सकता है, जैसे पुराने ज़माने में होता था और जैसा अब भी तुर्किस्तान में होता है। किन्तु लोगों के ऊपर कर लगाने से तो कर लगाने-योग्य मनुष्यों की, और कोई मनुष्य अथवा कोई उद्योग कर लगने से बच न जाय इस बात की, बड़ी भारी व्यवस्था रखनी पड़ती है और इसलिए इस पद्धति में अत्याचारियों को दूसरी पद्धति की अपेक्षा अधिक

मनुष्यों को अपनी आय का भाग देना पड़ता है। इस पद्धति में स्थिति कुछ ऐसी होती है कि जिनके पास पैसा है वे सभी लोग अन्यायी के भागीदार बन सकते हैं, फिर चाहे वे देशी हों अथवा विदेशी। पहली और दूसरी पद्धति की अपेक्षा अन्यायी को तीसरी पद्धति में ये लाभ विशेष होते हैं:—

पहली बात तो यह है कि यूसुफ की तरह इस पद्धति में अकाल की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, बल्कि परिस्थिति ऐसी बना दी जाती है कि सदा ही दुष्काल बना रहता है। दूसरी पद्धति में किसानों से फ़सल की पैदावार के अनुसार ही लगान आदि वसूल किया जा सकता है, इच्छानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता, क्योंकि यदि उनके पास अधिक नाज नहीं है तो उनसे अधिक प्राप्ति की कोई सूरत ही नहीं रहती। किन्तु इस नवीन द्रव्य-पद्धति में तो जितना चाहो उतना वसूल कर लो, क्योंकि बेचारे किसान को ऋण चुकाने के लिए अपने पशु, वस्त्र और मकान तक बेचने पड़ते हैं। अन्यायी को इसमें मुख्य लाभ यह है कि वह दूसरों के परिश्रम का अधिक से अधिक फल अत्यन्त सुविधा और सरलता के साथ छीन सकता है, क्योंकि लोहे के पेंच की तरह द्रव्य-कर को सरलतापूर्वक अन्तिम सीमा तक पहुँचाया जा सकता है और सुनहले अंडे प्राप्त किये जा सकते हैं—भले ही अंडे देनेवाली मुर्गी मृत्यु-कूल पर ही जा पहुँचे।

दूसरा लाभ यह है कि इस पद्धति में जिनके पास ज़मीन नहीं होती है उनपर भी अन्यायी अपना हाथ फेर सकता है। पहले तो ये लोग अपनी मेहनत का थोड़ा-सा भाग अत्याचारी को देकर उसके अन्याय से छुटकारा पा जाते थे। अब तो

अनाज के बदले में मज़दूरी का जो भाग देते थे, उसे देने के बाद भी कर के रूप में मज़दूरी का और भी बहुत-सा हिस्सा देना पड़ता है।

अत्याचारी को इसमें हानि यह है कि बहुत सारे लोगों को अपनी आय का भाग देना पड़ता है। अपने व्यवस्थापकों तथा कर्मचारियों को ही नहीं, बल्कि उन सबको हिस्सा देना पड़ता है कि जिनके पास रुपया होता है और वह देशी तथा विदेशी दोनों ही तरह के लोग हो सकते हैं।

दूसरी पद्धति की अपेक्षा इस तीसरी पद्धति में पीड़ित लोगों को लाभ इतना ही है कि इसमें कुछ अधिक स्वतंत्रता रहती है; वे जहाँ चाहें रहें, जो चाहें करें, वे खेत बोयें या न बोयें, किसी को उन्हें हिसाब देने की जरूरत नहीं—और यदि उनके पास द्रव्य है तो वे अपने को एकदम स्वतंत्र भी समझ सकते हैं, और यदि उनके पास कुछ फ़ाज़िल रुपया हो तो वे केवल स्वतंत्र ही नहीं, बल्कि खुद अत्याचारी का पद प्राप्त करने की भी आशा कर सकते हैं, और थोड़े समय के लिए वे उस स्थिति को पहुँच भी जाते हैं।

अन्याय-पीड़ित लोगों को इसमें हानि यह है कि औसतन उनकी हालत बहुत ख़राब हो जाती है। उनकी कमाई का अधिकांश भाग उनसे ले लिया जाता है, क्योंकि उनकी मेहनत पर मजे चढ़ानेवाले लोगों की संख्या बढ़ जाती है और इसलिए उनके भरण-पोषण का भार बचे हुए थोड़े लोगों पर पड़ता है।

गुलाम बनाने की यह तीसरी पद्धति भी बहुत पुरानी है। पहली दोनों पद्धतियों को एकदम ही परित्यक्त किये बिना

इनके साथ-साथ अमल में आती है। मनुष्यों को गुलाम बनाने की ये तीनों पद्धतियाँ सदा ही अमल में आती रही हैं।

इन तीनों पद्धतियों की पेचदार कीलों से मिसाल दी जा सकती है, जो मज़दूरों को दबानेवाले तख्ते में लगी हुई हों। बीच का पेच, जिसपर सब का दारोमदार है और जिसके बिना दूसरे पेच बेकाम हैं, जो सबसे पहले कसा जाता है और कभी ढीला नहीं किया जाता है—अंग दासता का पेच है, जिसमें मार डालने की धमकी देकर कुछ लोग दूसरे लोगों को अपना गुलाम बनाते हैं। लोगों की ज़मीन तथा अनाज छीनकर उन्हें गुलाम बनाना, यह दूसरा पेच है। पहले पेच के बाद यह पेच कसा जाता है। इसमें भी मौत का डर दिखाकर ही ज़मीन और समाज पर कब्जा कायम रक्खा जाता है। लोगों के पास जो रुपया नहीं होता है, उसे कर के रूप मे लोगों से माँगकर गुलाम बनाना तीसरा पेच है; और इसमें भी जो रुपये की माँग होती है, उसके पीछे भी हत्या की धमकी तो रहती ही है।

ये तीनों पेच कस दिये जाते हैं और ढीले उसी हालत में किये जाते हैं, जब इनमें से एक और भी अधिक ज़ोर के साथ कस दिया जाता है। श्रम-जीवियों को पूर्ण रूप से गुलाम बनाने के लिए ये तीनों ही ज़रूरी हैं और हमारे समाज में इन तीनों का प्रयोग हो रहा है। तलवार से मार डालने की धमकी देकर लोगों को गुलाम बनाने की पहली पद्धति नष्ट तो कभी हुई ही नहीं और न होगी, जब तक अत्याचार का अस्तित्व रहेगा। क्योंकि यह धमकी ही सभी प्रकार के अत्याचारों का आधार है।

हम लोग निश्चित रूप से समझते हैं कि हमारे सभ्य संसार

से गुलामी बिलकुल नष्ट कर दी गई है और उसके अन्तिम अव-शेष भी अमेरिका तथा रूस में भस्मीभूत हो गये। हम समझते हैं कि अब कुछ जंगली जातियों में ही यह प्रथा पाई जाती है, हमारे अन्दर तो अब उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। किन्तु जब हम यह सोचते हैं, तो एक छोटी-सी बात भूल जाते हैं—उन लाखों सशस्त्र सैनिकों को हम भूल जाते हैं कि जो प्रत्येक राज्य में पाये जाते हैं और जिनके बिना कोई भी राज्य टिक नहीं सकता। ये लाखों सैनिक अपने शासकों के गुलाम नहीं तो और क्या हैं? क्या ये लोग मृत्यु और यातना की धमकी के कारण, जो धमकी कभी-कभी अमल में भी आती है, अपने सेना-नायकों की आज्ञा पालन करने के लिए मजबूर नहीं होते? अन्तर केवल इतना ही है कि इन गुलामों की तावेदारी को गुलाम-गोरी नहीं, अनुशासन कहते हैं; और दूसरे गुलाम मरण-पर्यन्त गुलामी करते हैं, किन्तु ये सैनिक नौकरी कहलानेवाले ज़माने में ही गुलामी करते हैं।

अपने सभ्य संसार में गुलामी नष्ट नहीं हुई, इतना ही नहीं बल्कि अनिवार्य सैनिक-सेवा के कारण कुछ समय से तो वह और भी दृढ़ हो गई है। पहले ही की तरह गुलामी अब भी चली आती है; केवल रूप में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ है। और जबतक एक आदमी दूसरे को किसी प्रकार की गुलामी में रखने का उद्योग करेगा तबतक तो वह व्यक्तिगत दासता भी जारी रहेगी कि जिसमें तलवार के ज़ोर से ज़मीन पर अधिकार जमाने और कर वसूल करने का काम होता है।

देश की रक्षा और गौरव-वृद्धि के लिए, जैसा कि कहा

जाता है, सम्भव है कि यह सैनिक-दासता जरूरी हो, किन्तु यह ज़रूरत भी है अत्यन्त सन्देहास्पद। क्योंकि हम देखते हैं कि युद्ध में पराजय होने के बाद प्रायः यही सेना देश की दासता और अपकीर्ति का कारण बन उठती है। किन्तु इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि जमीन और कर-सम्बन्धी गुलामी को क़ायम रखने के लिए यह सैनिक-दासता आवश्यक और अत्यन्त उपयोगी है।

यदि आयरिश या रूसी किसान ज़मीदारों की ज़मीन पर अधिकार कर लें, तो तुरन्त ही उन्हें अधिकार-च्युत करने के लिए सेना भेजी जायगी। यदि कोई शराब की भट्टी बनाये और आबकारी टैक्स अदा न करे, तो उसे बन्द कर देने के लिए फ़ौरन ही सैनिक आ पहुँचेंगे। लगान देने से किसी ने इनकार किया कि फिर वही बात हुई।

लोगों की जमीन और उनकी भोजन-सामग्री छीनकर मनुष्यों को गुलाम बनाने की पद्धति—यह दूसरा पेच है। यह पद्धति भी जहाँ कहीं मनुष्यों पर जबरदस्ती हुई है, वहाँ अवश्य ही मौजूद रही है; और चाहे कितने ही परिवर्तन उसमें क्यों न हुए हों, वह अब भी सभी जगह मौजूद है।

कहीं-कहीं, तुर्किस्तान की तरह, भूमि का मालिक राजा होता है और फ़सल का दसवाँ हिस्सा राज्य को दिया जाता है। कहीं भूमि का कुछ भाग राजा का होता है और उस पर लगान वसूल किया जाता है। कहीं सारी भूमि इंग्लैण्ड की तरह कुछ चुने हुए लोगों के हाथ में होती है और लगान पर उठा दी जाती है। कभी रूस, जर्मनी और फ्रांस की तरह थोड़ा या अधिक परि-

माण में भूमि का अधिकांश भाग ज़मीदारों के आधिपत्य में होता है। किन्तु जहाँ कहीं भी गुलामी का अस्तित्व होता है, वहाँ अत्याचारी ज़मीन का अधिकारी भी ज़रूर बन बैठता है और गुलाम बनाने का यह दूसरा पेच अन्य पेचों को देखकर ही कसा अथवा ढीला किया जाता है।

रूस में जब अधिकांश श्रमजीवी व्यक्तिगत दासता में जकड़े हुए थे तब भूमि-दासता की जरूरत न थी; किन्तु व्यक्तिगत दासता का पेच ढीला उसी हालत में किया गया, जब भूमि और कर-दासता के पेच कस दिये गये। सरकार ने जब भूमि को अपने अधिकार में कर लिया और उसे अपने प्रिय-पात्रों में बाँट दिया और रुपया जारी करके द्रव्य-कर की स्थापना कर दी, तभी कहीं जाकर उसने किसानों को व्यक्तिगत दासता से मुक्ति प्रदान की। इंगलिस्तान में आजकल भूमि-दासता का दौरदौरा है और भूमि के राष्ट्रीयकरण का जो प्रश्न उठ रहा है, उसका अर्थ यही है कि कर-सम्बन्धी पेच को कस दिया जाय, ताकि भूमि-दासता का पेच ढीला किया जा सके।

कर-द्वारा लोगों को गुलाम बनाने की तीसरी पद्धति भी उसी तरह सदा ही रही है। अब हमारे ज़माने में सिक्कों के मूल्य के एकीकरण तथा राज्याधिकारों की अभिवृद्धि के कारण इस पद्धति का जबरदस्त प्रभाव होगया है, और यह पद्धति अब इतनी विकसित हो गई है कि धीरे-धीरे गुलाम बनाने की दूसरी पद्धति अर्थात् भूमि-दासता का स्थान लेने जा रही है। समस्त यूरोप की आर्थिक स्थिति से स्पष्ट मालूम होता है कि तीसरे पेच को कसने ही से भूमि-दासता का पेच ढीला किया जारहा है।

हमने अपने ही जीवन-काल में रूस के अन्दर दासता के दो स्वरूपों को परिवर्तित होते देखा है। जब गुलामों को आजाद किया गया और भूमि के अधिकांश भाग पर ज़मींदारों का अधिकार बना रहा तब ज़मींदारों को यह चिन्ता हुई कि किसानों पर जो उनके अधिकार हैं, वे कहीं हाथ से निकल न जायँ, किन्तु अनुभव ने दिखा दिया कि व्यक्ति-गत दासता की पुरानी जञ्जीर को ढीला करके एक दूसरी-भूमि-दासता की जंजीर को खींचने ही की ज़रूरत है। किसान के पास नाज की कमी हुई, उसके पास खाने को न रहा। ज़मींदार के पास ज़मीन थी और था अन्न का भण्डार। बस, किसान वही गुलाम का गुलाम ही बना रहा।

गुलामी का दूसरा परिवर्तन उस समय देखने में आया, जब सरकार ने कर-सम्बन्धी पेंच खूब जोरों से कस दिया। अधिकांश श्रमजीवियों को ज़मींदारों के हाथ अथवा कारखानों में काम करने के लिए बिक जाना पड़ा। इस नवीन गुलामी की पद्धति ने तो लोगों को और भी जकड़ दिया, यहाँ तक कि फ़ी सदी ९० रूसी मज़दूर अब भी उन करों के भरने के निमित्त अपने ज़मींदारों के यहाँ अथवा कारखानों में काम कर रहे हैं। यह इतना स्पष्ट है कि सरकार यदि केवल एक साल के लिए यह कर लेना बन्द कर दे, तो ज़मींदारों के खेतों में और कारखानों में जो काम होते हैं वे सब बन्द हो जायँ। रूस के ९० फ़ी सदी लोग कर उगाहने के समय और उससे कुछ समय पहले कर अदा करने के लिए रुपया जमा करने की ख़ातिर अपने को बेचकर मज़दूरी करने पर मजबूर होते हैं।

गुलाम बनाने की ये तीनों पद्धतियाँ सदा प्रचलित रही हैं और आज भी मौजूद हैं, पर लोग या तो उनकी पर्वाह ही नहीं करते या उनकी आवश्यकता और अनिवार्यता को सिद्ध करने के लिए नये-नये बहाने खोज निकालते हैं; और सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस पर अन्य सभी बातों का आधार रहता है, जो पेच सबसे अधिक कसा होता है और जिसके अधीन समाज की सभी बातें रहती हैं, वही हमें दिखाई नहीं पड़ता।

प्राचीन काल में जब समस्त समाज-तंत्र व्यक्ति-गत दासता पर निर्भर था तब बड़े से बड़े दिमाग़ों को भी यह बात न दीख पड़ी। प्लैटो, जेनोफन, अरस्तू और रोमन लोग तो समझते थे कि इससे विपरीत तो कुछ हो ही नहीं सकता। दासता तो युद्ध का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है और इसके बिना मानव-समाज के अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव है। इसी प्रकार मध्य-युग में लोग भूमि-स्वामित्व के अर्थ को नहीं समझ पाये कि जिसपर उनके समय के समस्त आर्थिक तंत्र की रचना थी।

ठीक इसी तरह आजकल हमारे ज़माने में कोई नहीं देखता और शायद कोई देखना भी नहीं चाहता कि इस समय के अधिकांश लोगों की दासता का कारण वह कर है, जिसे सरकार इन्हीं करों के द्वारा पालित-पोषित अपने माली तथा फ़ौजी विभागों-द्वारा उन लोगों से वसूल करती है कि जिन्हें भूमि के द्वारा उसने अपना गुलाम बना रक्खा है।



कोई आश्चर्य नहीं कि सदा से गुलामी के पाश में जकड़े हुए गुलाम खुद भी अपनी स्थिति को नहीं समझते हैं, और जिस अवस्था में सदा से रहते चले आये हैं, उसी को वे मानव-जीवन की स्वाभाविक स्थिति मानते हैं और जब उनकी दासता के स्वरूप में कुछ परिवर्तन होता है तो वे उस छोटे-मोटे सुधार को अपने सन्तोष का कारण मान बैठते हैं। इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इन गुलामों के मालिक भी वास्तव में यह समझते हैं कि वे एक पेच को ढीला करके अपने गुलामों को कुछ स्वतंत्रता दे रहे हैं, हालाँ कि दूसरे पेच के आवश्यकता से अधिक कस जाने के कारण ही वे ऐसा करने को बाध्य होते हैं।

गुलाम और मालिक दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति के अभ्यस्त हो जाते हैं। गुलाम तो यह जानते ही नहीं कि आजादी क्या चीज है, वे तो सिर्फ इतना ही चाहते हैं कि उनकी स्थिति में कुछ सुधार अथवा उनकी अवस्था में कुछ परिवर्तन हो जाय, और मालिक अपने अन्याय-अत्याचार को छिपाने के लिए उत्सुक रहते हैं तथा प्राचीन पद्धति के स्थान पर दासता के जिन नवीन रूपों की वे स्थापना करते हैं उनका एक विशिष्ट प्रकार का अर्थ लगाने की चेष्टा करते हैं।

किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि एक स्वतंत्र शास्त्र

समझा जानेवाला अर्थ-शास्त्र लोगों की आर्थिक स्थिति का विचार करते समय उस बात को देखना कैसे भूल जाता है कि जो लोगों की साम्पत्तिक अवस्था का आधार-स्तम्भ है। यह कहा जा सकता है कि शास्त्र का काम है मुख्य घटनाओं का सम्बन्ध ढूंढ निकालने की कोशिश करना और बहुत-सी घटनाओं के समान्य कारणों की खोज करना। किन्तु आधुनिक सम्पत्ति-शास्त्र के अधिकांश कर्णधार बिलकुल इससे उलटा कार्य कर रहे हैं। घटनाओं के भीतरी रहस्यों और सम्बन्धों को वे कलेजे की तरह छिपाना चाहते हैं और बिलकुल सीधे-सादे महत्व-पूर्ण सवालों को चालाकी और सफाई के साथ टाल देते हैं।

आधुनिक अर्थशास्त्र का यह व्यवहार अड़ियल टट्टू की भाँति है, जो उतार की जगह पर कि जहाँ बोझा नहीं खींचना पड़ता है, सरलतापूर्वक चलता रहता है, किन्तु जहाँ बोझा खींचने का अवसर आया कि तुरन्त ही, जैसे दूसरी तरफ़ उसे कोई काम हो, वह दूसरे रास्ते की ओर मुड़ जाता है। अर्थ-शास्त्र के समक्ष जब कोई आवश्यक और गम्भीर प्रश्न आता है तो वह ऐसे-ऐसे प्रश्नों का वैज्ञानिक अन्वेषण करने में तल्लीन हो जाता है, जिनका उस प्रश्न के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। ऐसा करने का सिर्फ एक ही कारण है, और वह यह कि लोगों का ध्यान उन बातों की ओर से हटा दिया जाय। अधिकांश आदमी दूसरे व्यक्ति की आज्ञा के बिना न तो काम कर सकते हैं, और न भोजन ही कर सकते हैं। इस अस्वाभाविक, राक्षसी, कभी समझ में न आनेवाली और अनुपयुक्त ही नहीं बल्कि हानिकारक स्थिति का क्या कारण है ? यदि आप अर्थशास्त्र से इसका उत्तर

माँगेंगे तो वह गम्भीर मुद्रा बनाकर कहेगा—ऐसा होने का केवल यही कारण है कि कुछ आदमी दूसरे मनुष्यों की मेहनत और भरण-पोषण का प्रबन्ध और निरीक्षण करते हैं। उत्पादन का नियम ही ऐसा है।

तुम पूछोगे—'यह कैसा स्वामित्व का अधिकार है, जो यह आज्ञा देता है कि एक श्रेणी के मनुष्य दूसरी श्रेणी के मनुष्यों की ज़मीन, ख़ुराक और मेहनत का अपहरण करें ? तुम्हें गम्भीरतापूर्वक फिर उत्तर मिलेगा—"इस अधिकार की रचना परिश्रम के संरक्षण के तत्व पर की गई है।"—अर्थात्, कुछ लोगों के परिश्रम का संरक्षण दूसरे लोगों के परिश्रम का अपहरण करके किया जाता है।

"वह रुपया क्या चीज़ है, जिसे सरकार स्थान-स्थान पर अपने अधिकारियों-द्वारा ढलवाती है, और जो श्रमिकों के पास से बहुत बड़ी संख्या में वसूल किया जाता है तथा राष्ट्रीय ऋण के रूप में भी इसका भार मजदूरों के बेचारे भावी वंशजों पर डाला जाता है ?" जब तुम ऐसा सवाल करोगे और साथ ही यह भी पूछोगे कि "यह रुपया लोगों के पास से जिस हद तक निकाला जा सकता है निकाला जाता है, तो क्या इतने भारी करों का परिणाम कर-दाताओं की आर्थिक दशा पर कुछ भी नहीं पड़ता ?" तो तुम्हें पूर्ण निश्चयात्मक रूप से उत्तर मिलेगा—"रुपया भी शक्कर और कपड़े की तरह एक प्रकार का व्यापारी पदार्थ है। अन्तर केवल इतना ही है कि शक्कर और कपड़े से भी, विनिमय करने में, यह अधिक सुविधाजनक है। लेकिन करों के कारण रिआया की माली हालत पर कुछ भी असर पड़ेगा

कि नहीं, यह सवाल ही दूसरा है—धनोपार्जन, विनिमय तथा वितरण एक वस्तु है और कर बिलकुल ही दूसरी चीज़।"

तुम पूछोगे कि सरकार अपनी इच्छा के अनुसार भाव घटाती-बढ़ाती है और जिन-जिन के पास ज़मीन होती है उन सब को कर-वृद्धि कर, गुलाम बनाती है तो क्या इसका भी लोगों की आर्थिक अवस्था पर कुछ भी असर नहीं पड़ता ? अत्यन्त दृढ़तापूर्वक अर्थशास्त्र जवाब देगा, "बिलकुल नहीं ! पैदावार, विनिमय और क्रय-विक्रय एक अलग विषय है; अर्थशास्त्र में इसका समावेश क़तई नहीं है।"

अन्त में तुम पूछोगे—"सरकार ने सारे राष्ट्र को गुलामी में जकड़ दिया है, वह अपनी इच्छानुसार सब लोगों को पंगु बना सकती है उन्हें सैनिक गुलामी मे फँसाकर उनकी अधिकांश आमदनी को वह उनसे छीन लेती है। क्या इन सबका जनता की साम्पत्तिक अवस्था पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा ?" तो संक्षेप में इसका तुम्हे जवाब मिलेगा—"यह सारा सवाल ही दूसरा है; यह तो राजनीति का विषय है।"

जिसका प्रत्येक कार्य और प्रवृत्ति अत्याचारियों की इच्छा पर निर्भर है, उस जनता के साम्पत्तिक जीवन के नियमों का अर्थ शास्त्र संजीदगी से प्रथक्करण करता है और ज़ालिमों के इस अधिकार को वह राष्ट्र की स्वाभाविक समानता बताता है। गुलामों के जीवन पर मालिक की मनोवृत्ति का कितना असर पड़ता है, मालिक अपनी इच्छानुसार हर तरह का काम किस प्रकार गुलामों से करवाता है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर किस तरह उन्हें खींच ले जाता है और अपनी मर्ज़ी के मुआफ़िक

उन्हें भोजन देता है अथवा भूखों मारता है, उन्हें मार डालता है अथवा जीवित रखता है—जाँच करनेवाला, इन सब बातों का विचार किये बिना ही, खेती का काम करनेवाले गुलामों की आर्थिक स्थिति का अन्दाज़ कैसे लगा सकता है ? अर्थशास्त्र ही सिर्फ़ ऐसा कर सकता है।

कितने ही आदमी इस बात से यह समझेंगे कि शास्त्र मूर्खता के कारण ऐसा करता है। किन्तु शास्त्र के विधानों का प्रथक्करण करके उनका विश्लेषण करें तो निश्चयात्मक रूप से समाधान हो जायगा कि मूर्खता नहीं प्रत्युत् बड़ी विचक्षणता है।

इस शास्त्र का एक निश्चित हेतु है और वह उसको बराबर निभाता रहता है। लोगों को सन्देह एवं भ्रम में रखना और मानव-जाति को सत्य अथवा कल्याण की ओर प्रगति करने से रोकना, यही इसका ध्येय है। एक वाहियात अन्ध-विश्वास बहुत दिनों से लोगों में चला आता है और वह अभी तक क़ायम है; और इस अन्ध-विश्वास ने भयंकर से भयंकर धार्मिक अन्ध-विश्वासों से भी बढ़कर हानि पहुँचाई है। इसी वहम को अर्थ-शास्त्र अपनी पूरी ताक़त के साथ टिकाये हुए है।

यह वहम भी दूसरे धार्मिक अन्ध-विश्वासों-जैसा ही है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति जो कर्त्तव्य है, उससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य एक काल्पनिक व्यक्ति के प्रति है, इस बात का यह शास्त्र प्रतिपादन करता है। धर्म-शास्त्र में यह काल्पनिक व्यक्ति ईश्वर है और राजनीति-शास्त्र में यह व्यक्ति है राज्य। काल्पनिक व्यक्ति को बलिदान देना चाहिए, यहाँ तक कि कितनी ही बार मनुष्य-जीवन तक का बलिदान दे डालना

चाहिए, और ये बलिदान हर तरह से, यहाँ तक कि जबरदस्ती भी लोगों से कराये जा सकते हैं और कराये जाने चाहिएँ—ये बातें धार्मिक अन्ध-विश्वास में सम्मिलित हैं। राजकीय वहम हैं—मनुष्य का मनुष्य के प्रति जो कर्त्तव्य है उससे भी बहुत अधिक महत्व-पूर्ण कर्त्तव्य एक काल्पनिक व्यक्ति—राज्य—के लिए हमें अदा करने हैं। राज्य के लिए जो बलिदान दिये जाते हैं—और वे भी कितनी ही बार मनुष्य की जिन्दगी तक के देने पड़ते हैं, वे सब आवश्यक हैं और मनुष्य के पास से, किसी भी तरह से, चाहे बलात्कार से ही सही,ऐसे बलिदान लेने में कोई हानि नहीं है। पहले तो भिन्न-भिन्न सम्प्रादाय के पुरोहितों ने इस भ्रम को टिकाये रक्खा और आज अर्थ-शास्त्र नामधारी वस्तु उसे बचाये हुए है। मनुष्यों को प्राचीन काल की किसी भी दासता से अधिक खराब और अधिक भयंकर गुलामी में जकड़ा जा रहा है; फिर भी शास्त्र लोगों को इस बात के समझाने की चेष्टा करता है कि इस भ्रम की जरूरत है— यह अनिवार्य है।

लोक-कल्याण के लिए राज्य की अत्यन्त आवश्यकता है और उसे अपना फ़र्ज अदा करना पड़ता है—जनता को व्यवस्थित रखना होता है और शत्रुओं से उसकी रक्षा करनी पड़ती है और ऐसा करने के लिए राज्य को फ़ौज तथा रुपये की आवश्यकता होती है। राज्य के अधिकांश नागरिक मिलकर इस रक़म को पूरा भी कर देते हैं। इसलिए मनुष्यों के सारे पारस्परिक सम्बन्धों का विचार राज्य के अस्तित्व को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

एक साधारण और अपढ़ मनुष्य कहता है —“मुझे मेरे पिता को खेती के काम में सहायता पहुँचानी है; मुझे शादी

करनी है, मगर बजाय इसके, मुझे पकड़कर छः वर्ष की सैनिक शिक्षा के लिए केम्प में भेज देते हैं। मैं सिपाहीगिरी छोड़कर खेती तथा अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करना चाहता हूँ। किन्तु आस-पास सौ मील तक मैं रुपये न दूँ तो मुझे खेती करने की आज्ञा ही न मिले, और पैसा तो मेरे पास एक भी नहीं है। फिर मैं जिसको रुपये दूँगा उसे खेती का बिलकुल ज्ञान नहीं है और वह इतने अधिक दाम माँगता है कि मुझे जमीन की खातिर अपनी अधिकांश मेहनत उसकी भेंट कर देनी पड़ती है। मैं कुछ कमाने की फ़िक्र करता हूँ और अपने व्यय के अतिरिक्त बचे हुए पैसे अपने बाल-बच्चों को दे देना चाहता हूँ; लेकिन गाँव का एक सिपाही आता है और जो कुछ मेरे पास बचा था, टैक्सों के नाम पर उठा ले जाता है। मैं फिर कमाता हूँ और वह फिर आकर छीन ले जाता है। मेरी सारी—'तल-तिल मात्र—आर्थिक दशा सरकारी माँग पर आश्रित है। मैं समझता हूँ, अब तो राज्य के बन्धनों से मुक्त होने पर ही मेरी और मेरे बन्धुओं की स्थिति सुधर सकती है।"

किन्तु शास्त्र कहता है, "तुम मूर्खता के कारण ऐसा सोचते हो। सम्पत्ति की उत्पत्ति, हेरफेर और खरीद-फ़रोख्त का अध्ययन करो और आर्थिक प्रश्नों को राज्य के मसलों में मत मिलाओ। तुम जिस विशेष परिस्थिति की ओर सङ्केत करते हो वह तुम्हारे लिए अंकुश-रूप नहीं है वरन् यही वे कुर्बानियाँ हैं, जो अन्य लोगों के साथ तुम्हें अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए करनी होंगी।"

इसपर उपर्युक्त भोला-भाला आदमी फिर कहता है—

किन्तु इन लोगों ने मेरे लड़के को मुझ से छीन लिया है और मेरे दूसरे लड़के को भी, जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है, छीन ले जाने के लिए कह रहे हैं। वे बलात्कार उन्हें, मेरे पास से, छीन ले जाते हैं और शत्रुओं की गोलियों के सामने लड़ने के लिए दूसरे देश को भेज देते हैं, जिस देश का कि मेरे लड़कों ने नाम तक नहीं सुना था। हमें यह भी नहीं मालूम हो पाता है कि यह युद्ध किस लिए हो रहा है। लेकिन जो ज़मीन हमें जोतने को नहीं दी जाती है तथा जिसके अभाव में हमें भूखों मरना पड़ता है वह किसी ऐसे शख्स ने जबरदस्ती अपने कब्ज़े में कर रक्खी है कि जिसे हमने कभी नहीं देखा और न उसके अस्तित्व की उपयोगिता ही हमारी समझ में आती है। जिन करों के कारण मेरे लड़के से सरकारी सिपाही मेरी गाय छीन ले गया है वह कर, मुझे पक्का विश्वास है, सरकारी अधिकारी और मंत्रि-मण्डल के अनेक सभासदों के पास जायगा, जिन्हें न तो मैं पहचानता हूँ और न मुझे यह मालूम है कि उनसे मुझे कुछ फ़ायदा होगा। तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि इन ज्यादतियों के द्वारा मेरी स्वतंत्रता की रक्षा होगी और इन तमाम बुराइयों से मेरा भला होगा?"

मनुष्य को गुलाम बना डालना सरल है। उससे वह काम करा लेना भी जिसे वह नापसन्द करे, सम्भव है। किन्तु जिस समय वह अत्याचारों को सहन कर रहा हो, उससे यह क़बूल करा लेना असम्भव है कि ये बातें तो उसकी स्वतंत्रता की द्योतक हैं। यह बिलकुल सम्भव है कि वह दुष्टता का अनुभव होने पर भी उसे कल्याणकारी वस्तु के नाम से पुकारे।

इतना सब कुछ होने पर भी वर्तमान समय का शास्त्र ऐसा मानने को बाध्य करता है।

सरकार—जुल्म पर आश्रित शस्त्रधारी सत्ता—लोगों पर अत्याचार करती है। वह पहले ही से यह निश्चय कर लेती है कि उन लोगों से वह क्या चाहती है। जिस प्रकार अंग्रेजों ने फिजी के लोगों के साथ किया, उसी प्रकार सरकार पहले से ही अन्दाज लगा लेती है कि मजदूरों से काम लेने में उसे कितने सहायकों की आवश्यकता है। अपने इन मददगारों को वह सैनिकों, जमींदारों तथा कर वसूल करनेवाले लोगों में विभाजित कर देती है। गुलाम अपनी मजदूरी देते हैं। वे यह भी मानते हैं कि मालिकों की खातिर नहीं, वरन् अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए उन्हें 'राज्य' नामक देवता की पूजा करने और उसके आगे रक्त का बलिदान करने की आवश्यकता है। उनको विश्वास है कि इस देवता को सन्तुष्ट कर लेने के बाद फिर उनकी छुट्टी है। इन भ्रान्तियों के फैलने का कारण सिर्फ यही है कि प्राचीन समय के सम्प्रदाय और पुरोहित-धर्म के नाम पर ऐसी ही बातें करते थे और आज भी भिन्न-भिन्न विद्वान् और पंडित-गण विज्ञान और शास्त्र के नाम पर यही बात कहते हैं। अपने को धर्माचार्य और पण्डित कहलानेवाले इन लोगों पर से अपनी अन्धश्रद्धा उठालो तो ऐसे विधानों की निस्सारता अपनेआप प्रकट हो जायगी। जो लोग दूसरों पर जुल्म करते हैं, वे कहते हैं कि राज्य-व्यवस्था के लिए ऐसे जुल्मों की आवश्यकता है। लोगों की शान्ति और कल्याण के लिए राज्य-व्यवस्था की ज़रूरत है। इसका अर्थ यह हुआ कि अत्याचारी जनता पर जो सैन्या-

चार करते हैं वे लोगों की स्वतंत्रता के लिए हैं और उनके साथ जो ज़बरदस्ती की जाती है वह उनके कल्याण के लिए। किन्तु लोगों को बुद्धि इसलिए मिली है कि वह अपना हिताहित समझें और जिसे अच्छा समझें स्वेच्छापूर्वक उसका आचरण करें।

लेकिन लोगों का कल्याण उन कामों से नहीं हो सकता, जिनकी उपयोगिता उनकी समझ में नहीं आती और जो उनसे बल-पूर्वक कराये जाते हैं। बुद्धिमान आदमी अपने मन को उपयोगी जँचनेवाले कार्यों को ही अच्छा समझते हैं। यदि कोई आदमी आवेश अथवा अज्ञान में कोई बुरा कार्य करने पर उतारू हो जाता है, तो जो लोग ऐसा नहीं करते हैं, वे अधिक से अधिक यही कर सकते हैं कि उस मनुष्य को उसके कार्य का दोष समझा दें और बतला दें कि उसकी भलाई किस बात में है। लोगों को यह बात समझाना कठिन नहीं कि तुम अधिक संख्या में सैनिक बनाये जाओगे, अपनी ज़मीन खो बैठोगे और कर-स्वरूप अपनी अधिकांश मेहनत दे दोगे तो उसमें तुम्हारा अधिक लाभ होगा। मगर तबतक इस बात को लोगों के सामान्य कल्याण की संज्ञा नहीं दी जा सकती, जबतक वे इस बात में अपना कल्याण अनुभव नहीं करते अथवा प्रसन्नता-पूर्वक इस बात को करने के लिए तैयार नहीं होते।

अधिकांश लोग स्वेच्छापूर्वक उसे करने लग जायँ—किसी भी कार्य के कल्याणकारी होने का यह प्रमाण है। मनुष्यों के जीवन ऐसे कार्यों से भरे पड़े हैं। दस मज़दूर अपने काम लायक औज़ार अपने पास रखते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करते हुए वे अपना भला करते जाते हैं। लेकिन, जहाँ ये लोग

किसी ग्यारहवें मजदूर को जबरदस्ती अपने में सम्मलित करने के लिए मजबूरन काम करावें और उससे कहें कि उनके सामूहिक कल्याण में उसका भी कल्याण है, तो यह कल्याण नहीं कहा जा सकता।

कितने ही मनुष्य एकत्र होकर अपने किसी मित्र को भोज देते हैं, इसमें भी वही बात चरितार्थ होती है। किसी आदमी से उसकी मर्जी के खिलाफ १०–१५ रुपये ले लेना और उसे कहना कि इस दावत में उसका फ़ायदा है, सरासर अन्याय है। ऐसा ही उदाहरण अपने स्वार्थ के लिए तालाब खोदनेवाले किसानों का दिया जा सकता है। जो किसान तालाब की उपयोगिता को उसके खोदने के परिश्रम से अधिक लाभदायक समझते हैं, उनके लिए यह तालाब फ़ायदेमन्द चीज साबित हो सकती है। लेकिन वे लोग, जो कि खेत जोतने से तालाब खोदने का मूल्य कम समझते हैं, इसे हानिकर ही समझेंगे और वास्तव में वह उनके लिए अनुपयोगी सिद्ध भी होगा। सड़कों, गिर्जाघरों, अजायबघरों और अनेक दूसरे ऐसे सामाजिक और राजनैतिक कार्यों के लिए भी यही बात लागू होती है। जिन चीजों को उपयोगी मानकर स्वेच्छा से परिश्रम किया जाय वे ही वस्तुयें कल्याणकारी हो सकती हैं। जिन कामों के करने के लिए लोगों को जबरदस्ती ठेला जाता है वे सब काम, इस बलात्कार के कारण, न तो उपयोगी माने जा सकते हैं और न कल्याणकारी ही।

यह सब इतना स्पष्ट और सरल है कि यदि लोगों को इतने अधिक समय तक धोखा न दिया गया होता तो इसे कुछ भी समझाने की जरूरत नहीं पड़ती।

कल्पना करो कि हम किसी ग्राम में रहते हैं। वहाँ के अधिकांश लोग एक ऐसे गड्ढे पर पुल बाँधना चाहते हैं, जिसमें लोगों के डूब जाने का खतरा है। इसके लिए तय किया गया कि प्रत्येक किसान इतने पैसे, लकड़ी अथवा अमुक दिन की मजदूरी दे देवे। हम सबने यह निश्चय इसलिए किया कि पुल पर जो खर्च किया जायगा उससे पुल हमारे लिए अधिक उपयोगी है। लेकिन हम में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो पुल को आवश्यक नहीं समझते हैं और उसके लिए खर्च नहीं करना चाहते। क्या ऐसे लोगों पर पुल बाँधने के लिए सख्ती करना उनके लिए लाभदायक होगा ? हर्गिज नहीं। कारण कि जो लोग पुल बाँधने में स्वेच्छापूर्वक भाग लेना बेकार समझते हैं, यदि उन्हें ऐसा करने को विवश किया जाय, तो उलटा वे इस कार्य को और अधिक हानिकर समझने लगेंगे। अब सोचो कि हमने बिना किसी अपवाद के पुल बाँधने का निश्चय कर डाला और प्रत्येक आदमी ने निश्चित पैसे अथवा मेहनत दे देने का वचन दे दिया। लेकिन बीच में ऐसा हो गया कि जिन्होंने ऐसे वचन दिये थे उनमें से कितने ही उसे न निभा सके। क्योंकि उनकी परिस्थति में कुछ अन्तर पड़ गया, इसलिए वे पुल पर पैसा खर्च करने की अपेक्षा बिना पुल के काम चलाना ही अच्छा समझने लगे या इस सम्बन्ध में उनके कुछ विचार, परिवर्तित हो गये, अथवा उन्होंने यह सोचा कि उनकी मदद के बिना ही दूसरे लोग पुल बाँध लेंगे; और उससे फ़ायदा उठाने को तो मिल ही जायगा। क्या इन लोगों के साथ जबरदस्ती करने से वे यह समझने लगेंगे कि पुल बाँधने के काम में जो हमसे जबरदस्ती मदद ली जा रही है

वह हमारे अपने लाभ के लिए ही है ? बिलकुल नहीं । क्योंकि इन लोगों की अवस्था बदल गई है, जिसके कारण पुल बाँधने में सहायता करना इनके लिए मुश्किल हो गया है और इसलिए वे अपना वचन नहीं निभा सकते ।

ऐसी दशा में उन्हें भाग लेने के लिए विवश करना तो और भी बुरा है । किन्तु जो लोग पुल बाँधने में मदद देने से इनकार करते हैं उनकी इच्छा यदि यह हो कि वे दूसरों की मेहनत से लाभ उठाना चाहते हैं, तब इस हालत में भी उन्हें भाग लेने के लिए मजबूर करना मानों एक प्रत्यक्ष कल्पित विचार के लिए दण्ड देना है । इन दोनों ही हालतों में अनिच्छा-पूर्वक लोगों से काम कराना उनके लिए लाभदायक नहीं कहा जा सकता ।

गड्ढे पर पुल बाँधने-जैसे निर्विवाद, आवश्यक और सर्वोपयोगी कार्य में भी ऐसी स्थिति आ पड़ती है । फिर सैनिक प्रतिबन्ध और करों-जैसी चीजें, जिनका कि आशय मस्तिष्क में समाता ही नहीं, अस्पष्ट हैं और कितनी ही बार तो भयंकर रूप से हानिकर भी हैं; इन बातों के लिए लाखों लोगों पर अत्याचार करना, ताकि वे इनके लिए त्याग करें, इतना घोर मूर्खतापूर्ण और अन्याययुक्त कार्य है ! लेकिन जो सबको बुरा मालूम होता है उसी के लिए शास्त्र कहता है कि वह वास्तव में सर्वोपयोगी है ।

शास्त्र के अनुसार तो कहा जा सकता है कि बहुत कम लोग जानते हैं कि सार्वजनिक हित किस बात में छिपा हुआ है । दूसरे अधिकांश लोग इस सार्वजनिक हित को भले ही अहित समझें, फिर भी थोड़े-से लोग दूसरे लोगों को वह काम करने के लिए विवश कर सकते हैं कि जिसे वे सार्वजनिक हित कहते हैं ।

सत्य और कल्याण की ओर जानेवाली मानव-जाति की प्रगति को रोकनेवाला वहम और धोखे-बाज़ी इसी एक बात में छिपी हुई है। इस भ्रम और चालाकी को ज्यों की त्यों बनाये रखने के लिए राज्य से सम्बन्ध रखनेवाले सभी शास्त्र और खासकर अर्थ-शास्त्र खड्गहस्त हैं। लोगों की परतन्त्रता और गुलाम अवस्था को उनसे छिपाये रखना यही इसका उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह तरह-तरह के साधन ढूँढ़ता है। जुल्म को, जो सम्पूर्ण दासता का मूलस्रोत है, यह स्वाभाविक और अनिवार्य बताता है। इस प्रकार यह लोगों को भयंकर धोखा देता है और उनकी दुर्दशा के वास्तविक कारणों की ओर से आँखें बन्द कर लेता है।

गुलामी को मिटे बहुत समय हो गया। यूरोप से यह उठा दी गई। अमेरिका और रूस में भी यह नष्ट कर दी गई। किन्तु केवल शब्दों को ही नष्ट किया गया है—व्यवहार में यह ज्यों की त्यों मौजूद है।

गुलामी का अर्थ क्या है ? मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिस मेहनत की आवश्यकता है, वह दूसरों को सौंप दी जाय और स्वयं उसका लाभ न लें। मनुष्य जब मेहनत नहीं करता है—इसलिए नहीं कि दूसरे आदमी उसके लिए प्रेम-पूर्वक कार्य करते हैं, बल्कि इसलिए कि स्वयं मेहनत किये बिना ही दूसरों को अपने लिए मेहनत करने को बाध्य कर सकता है—बस, यही गुलामी है। तमाम यूरोपियन देशों में जहाँ ऐसे-ऐसे आदमी पड़े हुए हैं जो बल-पूर्वक दूसरे हजारों मनुष्यों के परिश्रम का अपने लिए उपयोग करते हैं और ऐसा करना वे

अपना अधिकार समझते हैं, अथवा जहाँ ऐसे लोग भी पड़े हुए हैं कि जो जुल्म के शिकार होते हैं और जो ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं—वहाँ गुलामी अपने भयङ्कर रूप में विराजमान है।

गुलामी मौजूद तो है ही। लेकिन यह है कहाँ और किस में ? यह गुलामी वहीं है, जहाँ वह सदा से रहती चली आई है। यह जबरदस्त और हथियारबन्द मनुष्यों के द्वारा निर्बल और निरस्त्र मनुष्यों पर होनेवाले जुल्मों में छिपी रहती है।

शारीरिक अत्याचार की तीन मुख्य पद्धतियाँ ये हैं—सैनिक जुल्म, सैनिक सहायता पर अवलम्बित जमीन के लगान की पद्धति और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से लोगों से लिये जानेवाले कर। इनका अस्तित्व सैनिक बल पर आश्रित है। इन तीनों बातों ही के बल पर दासता अब भी अपने पूर्ण घृणित रूप में विराजमान है। हम लोगों को यह दिखाई नहीं देती, इसका केवल एक ही कारण है। गुलामी के इन तीनों स्वरूपों का नये-नये ढंग से समर्थन होने के कारण इसका वास्तविक रूप हम नहीं देख पाते।

देश के संरक्षण का नाम ले-लेकर सशस्त्र मनुष्य निरस्त्र मनुष्यों पर अनन्त जुल्म करते हैं। देश के संरक्षण का नाम लेना केवल काल्पनिक है। वास्तव में इस तर्क के गर्भ में भी वे ही पुरानी बातें छिपी हुई हैं कि अत्याचारी दूसरों को दबावें।

जिस जमीन पर मनुष्य काम करता है उससे उसकी जमीन का हक़ जबरदस्ती छीन लिया जाता है। इसकी सफ़ाई में कहा जाता है कि जमीन छीननेवाले ने समाज के हित (अर्थात् काल्पनिक) का अमुक कार्य किया है, जिसके फल-स्वरूप इसे यह उपहार

मिलना ही चाहिए—वह अवश्य ज़मींदार बनाया जाना चाहिए। जहाँ एक बार उसे ऐसा अधिकार मिला कि वह उसके वंश का नैसर्गिक हक़ हो जाता है। सैनिक बल के द्वारा लोगों को गुलाम बनाना और मेहनत करनेवालों से ज़मीन पर का उनका स्वत्व छीन लेना—निष्पक्ष भाव से देखने पर ये दोनों बातें समान हैं। पिछली तरह के जुल्म का, धन अथवा कर का, जो इस ज़माने में बहुत ज़बरदस्त और महत्वपूर्ण हो गया है, बचाव बहुत विचित्र रूप से किया जाता है। ऐसी-ऐसी दलीलें दी जाती हैं कि लोगों के पास से उनकी सम्पत्ति और स्वतंत्रता तथा उनके तमाम अधिकार सार्वजनिक हित के लिए छीने जा सकते हैं। वास्तव में यह भी पूर्ण रूप से गुलामी है। अन्तर केवल इतना ही है कि अब यह व्यक्तिगत रूप में नहीं है, सामूहिक है।

जहाँ अत्याचारों को लाभों के नाम से पुकारा जाता है, वहीं दासता मौजूद मिलेगी। इन जुल्मों का रूप भिन्न हो सकता है। या तो राजा स्त्रियों तथा नन्हे बच्चों की हत्या करते अथवा गाँवों को उजाड़ते हुए सेना-सहित चढ़ाई करें, या गुलामों के मालिक ज़मीन के लिए गुलामों के पास से मेहनत अथवा मूल्य लें और कुछ बाकी रह जाय तो उसकी वसूली के लिए शस्त्रधारी सैनिकों की सहायता लें, या कुछ निश्चित व्यक्ति गाँव-गाँव फिर कर वसूल करें, या मन्त्रि-मण्डल प्रान्त और जिलाधिकारियों-द्वारा लगान लेवें और देने में आनाकानी करें तो सैनिक टुकड़ियाँ भेज दें—इनमें से किसी भी तरह लोगों पर अत्याचार किये जायँ, किन्तु संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जबतक तोप और तलवार के बल पर अत्याचार का अस्तित्व है तबतक सम्पत्ति का

विनिमय भली प्रकार नहीं हो सकता, प्रत्युत सारी सम्पत्ति स्वेच्छाचारियों के हाथ में अवश्य चली जायगी।

हेनरी जार्ज की तमाम जमीन के राष्ट्रीयकरण की योजना इस सत्य को पुष्ट करने का प्रबल प्रमाण है। हेनरी जार्ज का कहना है कि सारी जमीन को राज्य की सम्पत्ति बना डालना चाहिए। इसके पश्चात् तमाम प्रत्यक्ष और परोक्ष कर निकाल डालने चाहिएँ और उनके बदले केवल जमीन का लगान अर्थात् जो आदमी जितनी जमीन का उपयोग करे उस जमीन के लगान की जितनी रकम हो सरकार को दे दे।

ऐसा करने का क्या परिणाम होगा? राज्य में से जमीन की गुलामी उठ जायगी अर्थात् जमीन राज्य की गिनी जायगी। इंग्लैण्ड के अधिकार में इंग्लैण्ड की जमीन होगी, अमेरिका के अधिकार में उसकी स्वयं की जमीन होगी और ऐसा ही दूसरे देशों के लिए भी होगा। इसका फल यह होगा कि प्रत्येक राज्य के पास स्वयं फायदा उठाने जितनी जमीन होगी, उसी परिमाण में गुलामी रहेगी।

इस योजना से कदाचित जमीन पर निर्वाह करनेवाले मजदूरों में से कुछ की स्थिति सुधर जायगी, किन्तु जबतक लगान के बदले भारी कर लिये जायँगे तबतक गुलामी अवश्य बनी रहेगी। फसल खराब होने पर यदि कृषक के पास करों को अदा करने के लिए रुपया नहीं है, जो कि उससे जबरदस्ती वसूल किये जाते हैं, तो वह अपने को उन लोगों के हाथ विवश होकर बेच देता है कि जिनके पास रुपया है, ताकि उसकी जमीन और उसका सर्वस्व छीन न लिया जाय।

यदि किसी वर्तन में से पानी टपकता हो, तो उसमें छेद का होना अनिवार्य है। जब हम वर्तन का पेंदा देखेंगे तो हमें बहुत से सूराखों में से पानी टपकता हुआ दिखाई देगा। इन काल्पनिक सूराखों को बन्द करने का हम चाहे जितना प्रयत्न करें फिर भी पानी टपकता ही रहेगा। पानी टपकना बन्द करने के लिए तो जिस स्थान से पानी जाता हो वह ढूँढ़ निकालने और मिल जाने पर अन्दर से उस सूराख को बन्द करने की जरूरत है। लोगों की सम्पत्ति का अनियमितरूप से जो वितरण हो रहा है उसका अन्त करने का भी यही तरीका है—उन सूराखों को बन्द कर दिया जाय कि जिनमें से होकर वह बह निकलती है।

यह कहा जाता है कि मज़दूर-मण्डल का निर्माण करो, तमाम धन को सार्वजनिक सम्पत्ति बनाओ और सारी ज़मीन को भी सार्वजनिक सम्पत्ति बना डालो। ये सब बातें जिन सूराखों में से पानी टपकता हुआ-सा हमें दिखाई पड़ता है, उनको बाहर की ओर से बन्द करने के समान हैं। यदि हमें मज़दूरों की सम्पत्ति को दूसरों के हाथों में जाने देने से रोकना मंजूर है तो हमें अन्दर से उस सूराख को ढूँढ निकालने की ज़रूरत है कि जहाँ से वास्तव में पानी टपकता है। और यह सूराख है—सशस्त्र मनुष्य का निरस्त्र पर अत्याचार करना; मेहनत करनेवाले को सैनिक सत्ता के द्वारा उसकी मेहनत के लाभ से वञ्चित कर देना और उसकी ज़मीन छीन लेना तथा पैदावार लूट लेना। 'दूसरों को मार डालने का मुझे अधिकार है'—ऐसा कहनेवाला जबतक एक भी हथियारबन्द आदमी इस संसार में रहेगा,

फिर चाहे वह कोई हो, तबतक गुलामी और सम्पत्ति का अनियमित वितरण बराबर बना रहेगा।

'मैं दूसरों की मदद कर सकता हूँ'—इस भ्रम में जो मैं पड़ गया, इसका कारण यही है कि अपना और सेमियन का द्रव्य मैंने एकसा समझा। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है।

यह एक साधारण धारणा है कि रुपया सम्पत्ति का प्रतिनिधि है। किन्तु चूँकि सम्पत्ति मेहनत का फल है, इसलिए रुपया भी मेहनत का परिणाम है। यह तर्क इतना ही सच्चा है,' जितना सच्चा यह कि प्रत्येक राज्यतन्त्र समझौते (सामाजिक कौल-करार) का परिणाम है।

सब लोग यह मानते हैं कि पैसा एकमात्र मेहनत का विनिमय करने का साधन है। मैंने कुछ जूते तैयार किये, तुमने कुछ रोटियाँ पकाईं, और उसने कुछ भेड़ें पालीं। अब हमारी चीजों का सुगमतापूर्वक हेर-फेर हो सके, इसलिए, हमने अपने बीच में रुपये का प्रवेश किया। प्रत्येक आदमी के परिश्रम की नाप उस रुपये से होती है। इस प्रकार हम एक जोड़े जूते के बदले कुछ मांस और पाँच सेर आटे का विनिमय कर सकते हैं।

हम अपनी चीजों का विनिमय धन के द्वारा करते हैं और इस प्रकार जो धन हम में से प्रत्येक के पास होता है वह अपनी-अपनी मजदूरी का प्रमाण होता है। यह बात है भी बिल्कुल उचित। लेकिन यह तभीतक सम्भव और लाभदायक है, जबतक एक मनुष्य दूसरे पर जबरदस्ती न करे। दूसरे के परिश्रम को लूटने की ही जबरदस्ती नहीं, जैसा कि लड़ाई और गुलामी में होता है, वरन् अपने परिश्रम की रक्षा के लिए भी दूसरे पर

ज्यादती न की जाय, उसी समाज में यह बात सम्भव हो सकती है। जिस समाज के मनुष्य ईसा के उपदेशों का पूर्ण रूप से पालन करें, अर्थात् जिस वस्तु को जिसे आवश्यकता हो वह उसे मिल जाया करे और कोई व्यक्ति किसी के पास से कोई वस्तु छीन ले तो भी लोग उससे न माँगें, वहीं ऐसा होना सम्भव है। किन्तु जहाँ समाज में किञ्चित भी ज्यादती का समावेश हुआ कि 'धन उसके मालिक के परिश्रम का परिणाम है'--इस सिद्धान्त का कोई मतलब नहीं रह जाता। और न यह बात ही रह जाती है कि अमुक अधिकार मेहनत के द्वारा मिले हैं। वास्तव में वे तो ज्यादती से लिये गये हैं।

किसी जगह युद्ध हुआ और एक आदमी ने दूसरे के पास से जो मन में आया छीन लिया। जिस जगह ऐसा हुआ वहाँ तुरन्त इस सिद्धान्त का लोप हुआ समझो कि 'धन मेहनत का प्रतिनिधि है।' लूट में मिला हुआ माल बेचकर सैनिक जो धन-संग्रह करता है, अथवा सेनापति को जो दौलत मिलती है, उसका मतलब परिश्रम का परिणाम हर्गिज़ नहीं है। जूते बनाने में की गई मेहनत के बदले में मिलनेवाली और इस प्रकार मिलनेवाली सम्पत्ति में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। जबतक ग़ुलाम और मालिक का अस्तित्व रहेगा, जैसा कि संसार में सदा ही रहा है, तबतक 'पैसा परिश्रम का फल है' यह कहना असम्भव है। किसी स्त्री ने कुछ कपड़े सीकर उन्हें बेचे और उनके बदले में कुछ पैसे ले लिये; एक ग़ुलाम भी अपने सेठ (मालिक) को कपड़े बनाकर देता है और मालिक उन्हें बेचकर पैसे लेता है। दोनों प्रकार के पैसे एक ही हैं। किन्तु पहली तरह के पैसे मेह-

नत के फल हैं. इसके विपरीत दूसरी तरह के पैसे जुल्म के बदले में मिले हैं। कल्पना करो कि कोई अनजान आदमी अथवा मेरा पिता मुझे धन देता है, और जब वह मुझे देने लगता है तो मैं अथवा हरएक आदमी जानता है कि उसे मेरे पास से कोई नहीं छीन सकता। यदि कोई मेरे पास से छीनने की कोशिश करे या उधार ले जाय और नियत समय पर वापस न दे जाय, तो सरकार मेरा पक्ष लेगी और उसे मेरा धन लौटाने पर बाध्य करेगी—यह भी सब जानते हैं। तब इस बात में कुछ भी तथ्य नहीं रह जाता कि यह रुपया सेमियन को लकड़ी काटने में मिले हुए पैसे की तरह ही परिश्रम का परिणाम है।

इस प्रकार जिस समाज में जरा भी ज्यादती का उपयोग किया जाता हो, जिसके कारण दूसरे लोगों का धन छीन लिया जाता हो, अथवा दूसरों के धन को बचाने के लिए जबरदस्ती रुपये का संरक्षण किया जाय, वहाँ धन कभी परिश्रम का फल नहीं कहा जा सकता। ऐसी जगह में धन कभी तो मेहनत के बदले में मिलता है और कभी ज्यादती के फल-स्वरूप।

सारा व्यवहार स्वतन्त्र होने पर भी जहाँ एक आदमी का दूसरे पर जुल्म करने का एक भी उदाहरण हो, वहीं इस सिद्धान्त की हत्या हो जाती है। लेकिन आज तो अनेक प्रकार के अत्याचारों द्वारा धन इकट्ठा करते-करते सदियाँ गुजर गई हैं। समय-समय पर इन जुल्मों के रंग-रूप में फर्क अवश्य पड़ा, किन्तु इनका अस्तित्व कभी लोप नहीं हुआ। जैसा कि सब स्वीकार करते हैं, एकत्रित होनेवाली सम्पत्ति ही जुल्म का कारण है। जब परिश्रम के बदले में मिले हुए धन के प्रमाण की अपेक्षा हर तरह

की जबरदस्ती से मिले हुए धन के प्रमाण बहुसंख्यक रूप में हमारे सामने हैं, तब यह कहना कि जिसके पास धन है, वह उसके पसीने की कमाई है, निरी भूल और सफ़ेद झूठ है। कोई कहेगा कि ऐसा होना ही चाहिए, कोई कहेगा कि यही वाञ्छनीय है; लेकिन यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसा ही होता भी है।

धन परिश्रम का प्रतिनिधि है। हाँ, धन परिश्रम का प्रतिनिधि है। किन्तु किसकी मेहनत का ? हमारे समाज में तो इस बात का एक भी उदाहरण मिलना दुर्लभ है कि रुपया उसके मालिक के परिश्रम का फल है। अधिकांश में तो यह सब जगह दूसरे आदमियों की मेहनत का परिणाम होता है—मनुष्यों की भूतकाल और भविष्य की मेहनत का फल होता है। दूसरे लोगों से जबरदस्ती काम कराने की जो पद्धति चल रही है, यह उसीका प्रतिनिधि है।

सम्पत्ति की यदि बिलकुल ठीक और सीधी-सादी व्याख्या करें तो कह सकते हैं कि यह एक साङ्केतिक शब्द है, जो दूसरे लोगों की मेहनत को अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने का हक़—और अधिक सचाई के साथ कहा जाय तो, शक्ति देता है। आदर्श अर्थ में तो यह अधिकार अथवा शक्ति उसे ही मिलनी चाहिए कि जिसे धन परिश्रम के फल-स्वरूप मिला हो। जिस समाज में किसी भी प्रकार की जोर-जबरदस्ती न हो, उसी में धन परिश्रम का फल हो सकता है। परन्तु जिस समय समाज में जुल्म का तत्व प्रवेश करता है, अथवा मेहनत किये बिना ही दूसरे के परिश्रम पर मौज उड़ाने की कुछ भी शक्ति आने लगती है, उसी क्षण जिस पर जुल्म किया जाता है उसकी सम्पति के बिना ही उसकी

मेहनत का नाजायज फ़ायदा उठाने की शक्ति पैसे से पैदा हो जाती है।

जमींदार अपने गुलाम कृषकों पर निश्चित संख्या में कुछ कपड़े, अनाज या ढोर देने अथवा उतनी कीमत का रुपया देने का कर लगाता है। एक कृषक ढोर तो दे देता है, किन्तु कपड़े के बदले में पैसे देता है। जमींदार भी पैसे ले लेता है, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि इस रुपये से उतना कपड़ा अवश्य मिल जायगा। (साधारणतः वह पहले ही से सावधान रहकर इतना अधिक रुपया रखता है कि जिससे निश्चित कपड़े खरीद सके।) जमींदार के इस पैसे के कारण उसके पास इसी पैसे के लिए काम करनेवाले दूसरे आदमी भी बन्धन में पड़ जाते हैं।

कृषक, जमींदार को जो धन देता है, उसके कारण कितने ही दूसरे अजान आदमियों पर भी जमींदार अधिकार कर सकता है; क्योंकि पैसे लेकर कपड़े तैयार करना कितने ही आदमी खुशी से मंजूर कर लेते हैं। कपड़े बनानेवाले आदमियों के मिल जाने का कारण यही है कि किसी को भेड़ें पालने में सफलता नहीं मिली और उसे और भेड़ खरीदने के लिए रुपये की जरूरत हुई। वह रुपये लेकर कपड़े बना देता है। इधर पैसे लेकर कृषक भेड़ें देने को राजी हो जाता है, कारण कि इस वर्ष अनाज अच्छा नहीं पका और उसे और नाज खरीदने की जरूरत पड़ेगी। सारे संसार के तमाम देशों में यही पद्धति चल रही है।

मनुष्य अपनी भूत, भविष्य और वर्तमान मेहनत की पैदावार, कभी-कभी खाद्य पदार्थ-सहित, बेच देता है। वह इसलिए नहीं बेचता है कि रुपया विनिमय का बहुत सरल साधन है—क्योंकि

विनिमय तो वह रुपये के अतिरिक्त भी कर सकता है—प्रत्युत, इसलिए कि उसके पास से ज़बरदस्ती रुपया वसूल किया जाता है; और यही रुपया उसकी मजदूरी छीन लेने और अधिकार प्रदान करने का कारण होता है।

जब मिस्र के राजा ने अपने गुलामों के पास से मेहनत माँगी तो गुलामों ने उसी समय अपनी मेहनत उसे दे दी किन्तु; उन्होंने केवल अपने भूत और वर्तमान काल की मजदूरी दी थी—वे अपने भविष्यकाल की मज़दूरी न दे सके। लेकिन रुपये के प्रचार और उसके कारण शुरू होनेवाली स्पर्द्धा को लेकर भविष्य की मेहनत के बदले धन देना सम्भव हुआ।

जब समाज में जोर-ज़बरदस्ती का अस्तित्व होता है, तब धन एक नये प्रकार की अव्यक्त गुलामी का कारण बन जाता है। प्राचीन दासता का स्थान यह परिवर्द्धित नई गुलामी ले लेती है। एक गुलामों का मालिक यह समझता है कि पीटर, आइवन और सिडार की मेहनत पर मेरा अधिकार है। लेकिन जहाँ प्रत्येक मनुष्य के पास से पैसे की माँग की जाती है, वहाँ जिस आदमी के पास धन होता है वह उन सब आदमियों की मेहनत अपने हस्तगत कर लेता है, जिन्हें रुपये की ज़रूरत होती है। 'मालिक को अपने गुलामों पर पूर्ण अधिकार है'—दासता के इस महान् निर्दय और दुःख-स्वरूप को यह रुपया छिपा देता है। साथ ही रुपये की इस नई व्यवस्था में मालिक और गुलामों के बीच रहनेवाले वे मानवीय सम्बन्ध, जिनके कारण व्यक्तिगत गुलामी की कठोरता कितने ही अंशों में कम हो जाती है, कहीं नाम को भी नहीं रह जाते हैं।

मैं इस समय यह बहस नहीं करता कि यह स्थिति मनुष्य की जाति के विकास के लिए प्रगति के लिए, अथवा कदाचित ऐसी ही किसी वस्तु के लिए आवश्यक है कि नहीं। मैंने केवल अपने मन में धन का अर्थ स्पष्ट करने और धन को जो मैं 'परिश्रम का फल' समझता था मेरी इस भूल को सुधारने के लिए इतना विश्लेषण किया है। अब अनुभव ने मेरा समाधान कर दिया है कि धन परिश्रम का प्रतिनिधि नहीं है, प्रत्युत अधिकांश में अत्याचार अथवा जुल्म पर अवस्थित हानिकर योजनाओं का प्रतिनिधि है।

'धन परिश्रम का प्रतिनिधि है'-धन का ऐसा वांछनीय स्वरूप अब इस ज़माने में नहीं रह गया है। कहीं-कहीं अपवाद-रूप में ही धन परिश्रम के फल-स्वरूप दिखाई देता है। साधारणतः धन दूसरों के श्रम का उपभोग करने का साधन बन गया है।

धन और स्पर्द्धा के बढ़ते हुए प्रचार के कारण, धन का यह अर्थ अधिकाधिक दृढ़ होता जा रहा है। धन का मतलब दूसरे के परिश्रम का लाभ छीन लेने का अधिकार अथवा शक्ति है।

धन एक नये प्रकार की गुलामी है। प्राचीन और इस नवीन गुलामी में भेद सिर्फ इतना ही है कि यह अव्यक्त दासता है—इसे गुलामी में गुलाम के साथ के सब मानवी-सम्बन्ध छूट जाते हैं।

रुपया रुपया है। इसका मूल्य उसके ही समान है जो हमेशा एक समान और क़ानून से निर्धारित होता है। और फिर गुलामी

जिस प्रकार अनैतिक गिनी जाती है, उसी प्रकार धन का उपयोग अमानुषिक भी नहीं गिना जाता।

मेरी युवावस्था में क्लबों में 'लॉट्टो' नामक खेल खेलने का फ़ैशन चल पड़ा था। हरेक आदमी को यह खेल खेलने की चाट लगी। कहा जाता है कि हजारों आदमी इसमें अपनी सम्पत्ति गँवा बैठे, सैकड़ों कुटुम्ब नष्ट हो गये और कितने ही लोग अपनी पुश्तैनी मिल्कियत खो बैठे। कितने ही आदमियों ने तो आत्म-हत्या तक कर ली। इसीलिए इस खेल को रोक दिया गया, और वह रोक अबतक क़ायम है।

मुझे याद है कि मैं पुराने अनुभवी खिलाड़ियों से मिला, तब उन्होंने कहा कि यह खेल विशेष रूप से आकर्षक है; क्योंकि दूसरे खेलों की तरह, इस खेल में यह मालूम नहीं पड़ता कि हराना किसको है। इस खेल में लोग रुपये के बदले लकड़ी के टुकड़े तक दाव पर लगाते। प्रत्येक आदमी बहुत थोड़ी रकम हारता था, और इसलिए उसे बहुत दुःख नहीं होता था। यही हाल 'राउलेट' खेल का था और हर जगह इसकी भी विचार-पूर्वक रोक की गई।

धन के लिए भी यही बात लागू होती है। मेरे पास जादू का सदा बना रहनेवाला रुपया है। मैंने एक 'चेक' फाड़कर दिया और दुनिया के तमाम झंझटों से छुटकारा पा गया। मैं किसे नुकसान पहुँचाता हूँ ? मैं तो बहुत शान्त और दयालु व्यक्ति हूँ। लेकिन यह भी लॉट्टो और राउलेट की तरह का खेल है कि जिसमें हम यह नहीं देख सकते कि किसने हारकर आत्महत्या कर ली और किसने हमारे लिए इन चेकों का आयोजन किया

है। मुझे तो रुपया मिलता जाता है और मैं सावधानतापूर्वक चेक फाड़कर खर्च किया करता हूँ।

चेक फाड़ने के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं करता। न कुछ कर सकता हूँ और न कुछ करूँगा ही। इतना होने पर भी मुझे पक्का विश्वास है कि रुपया मेहनत का फल है। यह कितना महान् आश्चर्य है! लोग पागलों की बातें कहते हैं; किन्तु इनसे बढ़कर भी पागलों की बातें हो सकती हैं? चतुर और विद्वान् मनुष्य, जिनका चित्त दूसरी सब अवस्थाओं में ठीक रहता है, यहाँ आकर 'किंकर्त्तव्य विमूढ़' हो जाते हैं। उनके विचारों में स्थिरता लाने के लिए सिर्फ एक शब्द का अर्थ स्पष्ट करने की आवश्यकता है। किन्तु अपने दिमाग़ को ज़रा भी धक्का न लगने देने के लिए वे इस शब्द ही को दृष्टिकोण से बाहर निकाल डालते हैं, और अपने को ठीक रास्ते पर समझते हैं। चेक परिश्रम के प्रतिनिधि हैं! परिश्रम के हों, । लेकिन किसकी मेहनत के? उनके परिश्रम के नहीं, जिनके पास वे हैं, प्रत्युत वास्तव में वो जो मेहनत करते हैं उनके परिश्रम के प्रतिनिधि हैं।

धन और गुलामी एक ही वस्तु है—इनके उद्देश्य एक हैं और इसके परिणाम भी एक से हैं। मज़दूर पेशा लोगों की श्रेणी में के एक समर्थ लेखक ने वास्तव में बहुत ही ठीक कहा है कि धन का उद्देश्य मनुष्यों को मूल नियम से मुक्त कर देना है। यह मूल नियम जीवन का नैसर्गिक नियम है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक आदमी को शारीरिक परिश्रम करना चाहिए। धन का भी मालिकों पर वही प्रभाव पड़ता है, जो गुलामगिरी में पड़ता था—नई और अनंत नई आवश्य-

कतायें, कभी तृप्त न होनेवाली अनगिनत नई जरूरतें, रोज ढूँढ निकाली जाती हैं और उनका पोषण किया जाता है। वीभत्स लम्पटता, विषय-भोग और शक्ति-हीनता की वृद्धि होती है। ग़ुलामों पर इसका यह असर होता है कि उनकी मनुष्यता कुचल दी जाती है और उन्हें पशु बना डाला जाता है।

रुपया ग़ुलामी का नया और भयङ्कर स्वरूप है और पुरानी व्यक्तिगत दासता की भाँति यह ग़ुलाम और मालिक दोनों को पतित और भ्रष्ट बना देता है। इतना ही क्यों, यह उससे अधिक बुरा है; क्योंकि ग़ुलामी में दास और स्वामी के बीच मानव-सम्बन्ध की स्निग्धता रहती है, वह उसे भी एकदम ही नष्ट कर देता है।



"सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह सब ठीक है, लेकिन व्यवहार में क्या होगा?" लोगों के मुँह से इन शब्दों को सुनकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य होता है। जैसे कि सिद्धान्त तो बातें करने के लिए सुन्दर शब्द-मात्र हैं, वह कार्य में परिणत करने की चीज ही नहीं हैं। हमारे जीवन के सारे कार्य अनिवार्यतः सिद्धान्तों पर जैसे निर्भर ही न हों! जो ऐसा ही विचित्र ख़याल प्रचलित होता, तब तो दुनिया में ढेर के ढेर मूर्खतापूर्ण सिद्धान्तों की रचना हुई होती। हम जानते हैं कि सिद्धान्त उस निष्कर्ष को कहते हैं कि जो किसी विषय पर विचार करके मनुष्य निकालता है और व्यवहार वह है, जिसे मनुष्य कार्य-रूप में परिणत करता है। तब फिर कोई मनुष्य सोचे तो कि अमुक कार्य अमुक रीति पर करना चाहिए, पर करे उससे उलटा—यह कैसे हो सकता है? जो रोटी बनाने का सिद्धान्त यह हो कि पहले आटा गूँधा जाय और फिर ख़मीर उठाने के लिए उसे रख छोड़ा जाय, तो कोई बेवकूफ़ ही होगा, जो इसके विपरीत आचरण करेगा। पर हम लोगों में तो ऐसा कहने का रिवाज-सा हो गया है कि सिद्धान्त तो यह ठीक है, पर व्यवहार में यह कैसा होगा?

मैंने तो जो काम किये हैं, सभी में सिद्धान्तानुसार ही मेरा व्यवहार हुआ है; और वह इसलिए नहीं कि मैं अपने सिद्धान्त

को ठीक सिद्ध करना चाहता था, बल्कि इसलिए कि उसके प्रतिकूल व्यवहार मुझ से हो ही नहीं सकता था। मैंने जिस विषय पर विचार किया है, उसे मैं यदि अच्छी तरह समझ गया हूँ, तब फिर मैं जिस तरह उसे समझा हूँ उससे प्रतिकूल मैं व्यवहार कर ही कैसे सकता हूँ ?

मेरे पास धन था। यह धन परिश्रम का पारितोषिक है, अथवा सामान्यतः अच्छी चीज़ है और इसका मालिक होना क़ानूनन जायज़ है—इस सर्व-साधारण में फैले हुए बहम का मैं भी क़ायल था। इस धन से मैंने ग़रीबों की मदद करने का विचार किया। परन्तु ज्यों ही मैंने धन देना शुरू किया त्यों ही मुझे मालूम हुआ कि यह तो ग़रीबों के ऊपर लिखी हुई हुंडियाँ मैंने इकट्ठी कर रक्खी थीं और वही मैं उन्हें दे रहा हूँ। मैंने देखा कि मेरा यह काम वैसाही है, जैसा कि पुराने ज़माने में जमींदार लोग अपने कुछ ग़ुलामों को दूसरे गुलामों के लिए काम करने को मजबूर करते थे। मैंने देखा कि धन का कैसा भी उपयोग करो, चाहे उससे कोई चीज़ ख़रीदो, अथवा उसे मुफ्त में ही किसी को दे दो, इसका अर्थ यही होता है कि तुम ग़रीबों के नाम हुंडी लिखकर भेजते हो अथवा दूसरों को देते हो, जिससे वे ग़रीबों के पास जाकर हुंडी सिकरवा लें। इसलिए मैं स्पष्ट रूप से समझ गया कि ग़रीबों से धन छीनकर उससे उनकी मदद करना नितान्त मूर्खतापूर्ण है।

मैं यह समझ गया कि रुपया अच्छी चीज़ नहीं है; इतना ही नहीं, वह स्पष्टतः अनिष्टकर है, क्योंकि वह ग़रीबों को उनकी मेहनत से वंचित कर देता है और इस मेहनत में ही उनका मुख्य श्रेय

समाया हुआ है, और यह श्रेय मैं किसी को दे नहीं सकता, क्योंकि मैं स्वयं उससे वञ्चित हूँ। मैं न तो स्वयं मेहनत करता हूँ और न अपनी मेहनत का मज़ा चखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है।

शायद कोई पूछे—रुपये की इतनी सूक्ष्म विवेचना करने में ऐसा कौन सा बड़ा भारी लाभ है? किन्तु मैं जो रुपये की यह व्याख्या करने बैठा हूँ, वह केवल व्याख्या के लिए नहीं है, बल्कि उस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर पाने के लिए है कि जिसने मुझे इतना परेशान कर रक्खा है और जिसपर मेरा जीवन, अवलम्बित है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरा कर्तव्य क्या है?

जिस समय मुझे मालूम हो गया कि धन क्या है, रुपया क्या है, उसी समय यह स्पष्ट हो गया कि मुझे क्या करना चाहिए और अन्य सब लोगों को भी क्या करना चाहिए और अन्त में सब को जो अनिवार्य रूप से करना ही पड़ेगा, वह भी मुझे स्पष्ट और निस्सन्दिग्ध रूप से दीख पड़ा। सच तो यह है कि जो बात मैं बहुत दिनों से जानता था, उससे कोई नई बात मुझे नहीं सूझी। सत्य का यह उपदेश तो पुरातन काल से मानव-जाति को दिया जाता रहा है। बहुत ही प्राचीन काल में भगवान बुद्ध तथा इसैया, लाओटसे तथा सुकरात ने इस सत्य की घोषणा मानव-जाति के समक्ष की थी, और उसके बाद यूरोप में ईसामसीह तथा उनके पूर्व-गामी जान बैपटिस्ट ने तो अत्यन्त स्पष्ट और निस्सन्दिग्ध भाषा में इसी सत्य का उपदेश दिया।

लोगों ने जब जॉन से पूछा कि 'अब हम क्या करें?' तो उसने सूक्ष्म और स्पष्ट रूप से उत्तर दिया था—'जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उस आदमी को दे दे, जिसके पास एक भी

न हो; और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।'
(ल्यूक अ० तीन पद १०-११)

यही बात और अधिक स्पष्टता के साथ धनिकों को शाप तथा ग़रीबों को आशीर्वाद देते हुए ईसा मसीह ने कही है। उन्होंने कहा कि हम ब्रह्म और माया दोनों के होकर नहीं रह सकते। उन्होंने अपने शिष्यों को केवल धन लेने ही के लिए मना नहीं किया था, परन्तु अपने पास दो कोट न रखने का भी आदेश दिया था। धनी नवयुवक से उन्होंने कहा था कि धनिक होने के कारण तुम ईश्वर के दरबार में नहीं जा सकते। यह भी कहा कि सुई के नकुए में से ऊँट का निकल जाना तो सम्भव है, पर अमीर आदमी का स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।

उन्होंने कहा कि मेरा अनुसरण करने के लिए जो अपना घर-बार, बाल-बच्चे, खेती-बारी तथा अपना सर्वस्व त्यागने के लिए तैयार नहीं है, वह मेरा शिष्य नहीं हो सकता। उन्होंने एक धनी की कहानी सुनाई। उसने आजकल के धनी लोगों की तरह कोई बुरा काम तो किया नहीं था, केवल खूब आनन्द से खाता-पीता और अच्छे कपड़े पहनता था। वह इसीसे आत्मा को खो बैठा। लज़ारस नाम का एक भिखारी भी था, जिसने कोई विशेष अच्छा काम न करके भी अपनी ग़रीबी और भिक्षुक जीवन के कारण ही अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया।

मैं इस सत्य से बहुत पहले ही से परिचित था, किन्तु दुनिया की झूठी शिक्षा ने उसे ऐसी चालाकी से ढक लिया था कि वह केवल एक सिद्धान्त भर रह गया था—अर्थात् वह शुद्ध कल्पना-मात्र था, क्योंकि लोग प्रायः सिद्धान्त शब्द का यही अर्थ

करते हैं। किन्तु ज्यों ही दुनिया की झूठी शिक्षा का परदा मेरे मन से उठा त्यों ही सिद्धान्त और व्यवहार में मुझे एकात्मीयता दिखाई देने लगी और उसके परिणाम-स्वरूप अपने तथा अन्य समस्त मनुष्यों के जीवन का सच्चा अर्थ मैंने समझा।

मैंने समझा कि मनुष्य को अपने कल्याण के साथ ही दूसरे मनुष्यों के कल्याण के लिए भी उद्योग करना चाहिए; और यदि हमें पशु-जीवन से ही दृष्टान्त लेना हो, जैसा कि जीवन-संघर्ष के नियमों की भित्ति पर हिंसा और कलह को आवश्यक और उपादेय सिद्ध करने के लिए लोगों को पशु-जीवन से खोजकर उदाहरण देने का शौक होता है, तो हमें दृष्टान्त देना चाहिए, मधु-मक्खी-जैसे सामाजिक जीवों की जिन्दगी का। अपने पड़ोसी से प्रेम करने और उसकी सेवा करने का तो मनुष्य का स्वाभाविक कर्तव्य है ही, इसके अलावा बुद्धि और मनुष्य-स्वभाव का यह तक़ाज़ा है कि मनुष्य अपने भाइयों की सेवा करे और मानव-जाति के सामुदायिक हित के लिए उद्योग करे।

मैंने समझा कि मनुष्य के लिए यही नैसर्गिक नियम है, जिसका पालन करके ही वह अपने जीवनोद्देश्य को सफल बना कर सुखी हो सकता है। मैंने यह भी समझा कि इस सुन्दर नियम का उल्लंघन किया है और अब भी किया जा रहा है, क्योंकि लुटेरी मधु-मक्खियों की तरह कुछ लोग अपने बल का दुरुपयोग करके मेहनत-मजदूरी के कामों से बच निकलते हैं और दूसरों की मेहनत से लाभ उठाते हैं, तथा दूसरों के परिश्रम का उपयोग वह सार्वजनिक हित के लिए करते हों, यह भी नहीं, बल्कि अपनी दिन-दिन बढ़ती हुई वासनाओं की तृप्ति के लिए ही उसका

उपयोग करते हैं और परिणाम-स्वरूप लुटेरी मधु-मक्खियों ही की तरह वे नष्ट हो जाते हैं।

मैंने समझा कि एक वर्ग के लोग दूसरे मनुष्यों को गुलाम बनाते हैं, यही मनुष्यों के दुःखों का कारण है; और मैं यह भी समझ गया कि इस समय हमारे ज़माने में जो गुलामी प्रचलित है, उसके आधार-भूत ये तीन कारण हैं—सैनिक-हिंसा, भूमि-स्वामित्व और विभिन्न करों के रूप में रुपया वसूल करना। आधुनिक काल की दासता के इन तीनों कारणों के अर्थ को समझने के बाद उनसे छुटकारा पाने की इच्छा और चेष्टा किये बिना मुझसे रहा ही नहीं गया।

सर्फ़-पद्धति के जमाने में मैं भी ज़मींदार था, और मेरे अधीन भी बहुत से दास थे। जब मुझे मालूम हुआ कि यह स्थिति पापमय है, तो अन्य समान-विचारवाले लोगों के साथ मैंने इसमें से निकलने का यत्न किया और इस पाप-पङ्क से मैंने अपने को इस प्रकार छुड़ाया। मैं यह समझता था कि यह स्थिति पापमय है, इसलिए जबतक मैं उससे पूर्ण-रूप से मुक्त न हो जाऊँ तबतक मैंने अपने ज़मींदारी अधिकारों का जहाँ तक बन सके कम से कम उपयोग करने का निश्चय किया और, जैसे मेरे कोई अधिकार हैं ही नहीं, इस प्रकार मैं रहने लगा।

वर्तमान दासता के सम्बन्ध में भी मुझे ऐसा ही कहना है। अर्थात् जबतक मैं इन पापिष्ट अधिकारों से अपने को एकदम मुक्त नहीं कर लेता कि जो मुझे भूमि-स्वामित्व और सैनिक-बल के द्वारा लोगों से ज़बरदस्ती रुपया वसूल करने की शक्ति प्रदान करते हैं, तबतक मुझे जहाँ तक हो इन अधिकारों का न्यूनाधि-

न्यून उपयोग करना चाहिए और साथ ही साथ दूसरे लोगों को इन कल्पित स्वत्वों की अनीतिमत्ता और अमानुषिकता के विषय में समझाना चाहिए।

गुलामी में भाग लेने के अर्थ क्या हैं? यही न कि गुलामों का मालिक दूसरे लोगों की मेहनत का उपभोग करता है। जो ऐसा करता है वही दासता-रूपी पाप का भागीदार है, फिर वह दासता चाहे पहले प्रकार की हो, जिसमें मनुष्य के शरीर पर दावा किया जाता है, अथवा दूसरे प्रकार की कि जिसमें ज़मीन को अपने कब्जे में कर लिया जाता है, या तीसरे प्रकार की, जिसमें विभिन्न करों के रूप में रुपया वसूल करके मनुष्य को जीवनोपयोगी आवश्यक सामग्री से वंचित किया जाता है। अतएव मनुष्य यदि वस्तुतः गुलामी को नापसन्द करता है, और उसमें भाग लेना नहीं चाहता है, तो उसे सबसे पहला काम जो करना चाहिए, वह यह है कि उसे दूसरे मनुष्यों की मेहनत का उपभोग नहीं करना चाहिए—न तो सरकारी नौकरी-द्वारा न भूमि पर कब्ज़ा करके और न रुपये के बल से। सरकारी नौकरी, भूमि-स्वामित्व और रुपया इन तीनों से मनुष्य को बचना चाहिए; यही गुलामी के कारण हैं। इन्हीं के द्वारा ज़बरदस्ती दूसरे के परिश्रम का उपभोग किया जाता है।

दूसरे मनुष्यों के परिश्रम के फल का उपभोग करने के समस्त साधनों का इस्तेमाल न करने का यदि कोई मनुष्य निश्चय करे तो उसे अवश्य ही एक ओर तो अपनी आवश्यकताओं को कम करना पड़ेगा, और दूसरी ओर अभीतक अपना जो काम दूसरों से कराया जाता था, वह खुद हाथ से करना अपना कर्तव्य हो जायगा।

यह सीधी-सादी बात मेरे दिल में पैठ गई और उसने मेरे जीवन को एकदम ही बदल दिया। मनुष्यों के दुःखों को देखकर जो हार्दिक वेदना मुझे होती थी, उससे इस परिवर्तन के कारण अब मैं मुक्त हो गया। ग़रीबों की मदद करने की मेरी योजना की सफलता के जो तीन कारण थे उन्हें मैं अब स्पष्ट-रूप से समझ गया।

पहला कारण यह था कि लोग शहरों में जाकर एकत्रित हो जाते हैं और गाँव का धन भी खिचकर वहीं चला जाता है। बस, ज़रूरत इस बात की है कि सरकारी नौकरी करके, अथवा भूमि-स्वामित्व-द्वारा, या रुपये के ज़रिये दूसरे लोगों की मजदूरी का लाभ उठाने की प्रवृत्ति दूर कर ली जाय और अपनी आवश्यकताओं को यथाशक्ति अपने ही हाथों पूरा करने का यत्न किया जाय।

तब फिर गाँव छोड़कर शहर में रहने का किसी को ख़याल भी न आवेगा। कारण कि गाँव में रहकर अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को स्वयं अपने ही हाथों जुटाना शहर की अपेक्षा बहुत सरल है, क्योंकि वहाँ नगर में सभी चीजें दूसरों के परिश्रम-द्वारा उपार्जित की हुई हैं और बाहर से लाई गई हैं। गाँव में हाजतमन्द की सहायता आसानी से की जा सकती है और वहाँ रहकर मनुष्य यह कभी अनुभव न करेगा कि वह बिलकुल व्यर्थ और नाचीज़ है, जैसा कि मुझे उस समय अनुभव हुआ था कि जब मैं अपने नगर के दरिद्र लोगों को अपने रुपये से नहीं बल्कि दूसरों के परिश्रम-जनित फल से सहायता करने की आयोजना कर रहा था।

दूसरा कारण अमीरों और ग़रीबों के बीच का भेद-भाव था। मनुष्य सरकारी नौकरी करके अथवा भूमि और रुपये का मालिक बनकर दूसरों के परिश्रम का उपभोग करने की इच्छा न करे तो उसे मजबूर होकर अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति खुद अपने हाथों करनी पड़ेगी। और तब स्वभावतः बिना किसी प्रकार का उद्योग किये ही, उसके और ग़रीब आदमियों के मध्य जो अन्तर है, वह दूर हो जायगा और वह कन्धे से कन्धा मिलाकर उनके साथ खड़ा होगा और उनको सहायता पहुँचाने में भी समर्थ बनेगा।

तीसरा कारण मेरी लज्जा थी। जिस पैसे-द्वारा मैं ग़रीबों की मदद करना चाहता था, उस धन का मालिक होना पाप है, यह ज्ञान ही मेरी उस लज्जा का कारण था। मनुष्य सरकारी नौकरी-द्वारा अथवा भूमि और धन के स्वामित्व-द्वारा दूसरों के परिश्रम-जनित फलों का उपभोग करना छोड़ दे तो उसके पास यह 'मुफ्त का पैसा' कभी रहे ही नहीं। यह देखकर ही तो लोग मुझसे सहायता की याचना करने आते थे, जिसे पूरा न कर सकने के कारण मेरे मन में ग्लानि उठती थी और मेरे जीवन की अनीति-सत्ता नग्न रूप में मेरी आँखों के आगे आ खड़ी होती थी।

(प्रथम खण्ड समाप्त)

देते हुए जब हम उसे देखते हैं, तो अनायास ही एक मृत्युञ्जय आर्य योगी की कल्पना मन में जागृत होती है और संसार का मस्तक श्रद्धा और भक्ति के साथ उसके चरणों में झुक जाता है।

४, जॉन दि वैप्टिस्ट—ईसामसीह के कुछ पहले यह आचार्य हुआ था। कहा जाता है, इसने यह भविष्य-वाणी की थी—"मुझसे अधिक समर्थ उपदेशक मेरे बाद आयगा। मैं तो उसके जूतों के फीते खोलने लायक़ भी नहीं हूँ"। लोगों का विश्वास है कि यह इशारा ईसामसीह की ओर था और क्राइस्ट ही वह उपदेशक है जिसका जॉन दि वैप्टिस्ट ने ज़िक्र किया था। वह कहता था कि स्वर्ग-राज्य की स्थापना का समय हो गया है, इसलिए कोई पाप न करना चाहिए और सबके साथ प्रेम-पूर्ण समान व्यवहार करना चाहिए। जिन यहूदियों ने इसके उपदेश को ग्रहण किया, उन्हें जार्डन नाम की नदी में स्नान कराकर दीक्षा दी। इसी दीक्षा—बप्तिस्मा के कारण इसका नाम जॉन दि वैप्टिस्ट प्रसिद्ध हुआ। ईसा के जन्म से २८ वर्ष पूर्व उसे फाँसी पर चढ़ाकर मार डाला।

५, लज़ारस—यह एक ग़रीब फ़क़ीर था, जिसके शरीर में कुष्ट के घाव थे। वह एक अमीर आदमी के द्वार पर पड़ा रहता था, कुत्ते आकर इसके घाव को चाटते। वह अमीर बड़ी शान से रहता, खूब खाता-पीता और मौज करता। लज़ारस उसके जूठे टुकड़े खाकर ही किसी तरह गुज़ारा करता था। किन्तु जब यह मरा तो हज़रत इब्राहीम ने प्रेम-पूर्वक इसे अपनी गोद में लिटा लिया। वह धनी मरने पर क़ब्र में दफना दिया गया और उसे नरक मिला। जब उसकी आँख खुली तो वह असह्य

नारकीय पीड़ा से व्यथित हो उठा और देखा कि वह नाचीज़ ग़रीब लज़ारस—जो उसके द्वार पर पड़ा रहता और उसकी जूठन खाकर जीता था—आनन्द से इब्राहीम की गोद में लेटा हुआ है। उसने चिल्लाकर कहा-पिता! दया करके ज़रा लज़ारस को भेज दो, ताकि वह मेरे मुँह में पानी की दो बूँदें डाल जाय। मैं तो इस आग में झुलसा जाता हूँ। पर इब्राहीम ने कहा—पुत्र! यह नहीं हो सकता। तूने अपने जीवन में आनन्द किया और यह यहाँ आनन्द कर रहा है। दूसरे हमारे बीच में एक बड़ा गड्ढा है, जिसे पार करके कोई आ-जा नहीं सकता। उस धनिक ने तब प्रार्थना की कि लज़ारस को दुनिया में उसके बाप के घर भेज दिया जाय, ताकि उसके जो चार भाई हैं वे सबक़ सीखें और इस यातना से बचें। इब्राहीम ने उत्तर दिया कि दुनिया में हज़रत मूसा और अन्य पैग़म्बर हैं। जो लोग उनकी बातें नहीं सुनेंगे, वे मरकर फिर ज़िन्दा हो जानेवाले लज़ारस की बात की भी पर्वाह न करेंगे।

इस आख्यायिका में यह दिखलाया गया है कि मनुष्य धन के कारण भोग-विलास में पड़कर अपनी आत्मा को खो बैठता है और ग़रीब आत्म-चिन्तन और सरल जीवन के द्वारा अपना कल्याण करता है। इसमें धनिकों को चेतावनी है कि वे धन के मोह में पड़कर आत्मा को न भूल जायँ और ग़रीबों को आश्वासन है कि वे संसारी विपत्तियों से दुःखित न हों, वे इन्हीं के द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कर रहे हैं।

सस्ता-साहित्य मण्डल
अजमेर

का

सस्ता, यशप्रद, ज्ञानवर्धक, जीवनप्रद, बालोपयोगी, स्त्रियोपयोगी, संस्कारदायी तथा दिल को हिला देनेवाला

क्रान्तिकारी-साहित्य

आप

एक बार अवश्य पढ़ें।

सस्ता-साहित्य-मण्डल अजमेर के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य

देश में धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्रांति मचानेवाला एवं युवकों के हृदय में मातृभूमि की सेवा के लिए व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला साहित्य सुलभ—सस्ते मूल्य—में प्रकाशित करना।

नियम

(१) एक रुपया प्रवेश फीस भेजनेवाले सज्जन मंडल के स्थायी ग्राहक बन सकते हैं।

(२) स्थायी ग्राहकों को मण्डल की सारी पुस्तकें (एक-एक प्रति) पौने मूल्य में मिल सकती हैं।

(३) नई पुस्तकें प्रकाशित होने पर उसकी सूचना ग्राहकों को भेज दी जायगी। ग्राहकों की तरफ से कोई उत्तर न मिलने पर १५ दिन बाद वे पुस्तकें उनके पास पौनी कीमत तथा पोस्टेज खर्च जोड़ कर उतने रकम की व्ही. पी. से रवाना कर दी जावेंगी।

(४) किसी वी० पी० में हिसाब संबन्धी या और किसी तरह की कोई भूल जान पड़े तो ग्राहक उसे लौटावें नहीं। वी० पी० छुड़ाकर हमें लिख भेजें। भूल तुरन्त ठीक कर दी जावेगी।

(५) अपने ग्राहक नम्बर की सूचना मिलने पर मण्डल को पत्र लिखते समय ग्राहकों को हमेशा अपना नम्बर अवश्य लिख देना चाहिए। इससे पत्र की कार्यवाही शीघ्र हो जायगी और उनको उत्तर भी शीघ्र मिल सकेगा। ग्राहक नम्बर अपनी नोट बुक में लिख लें।

(६) ग्राहकों को अपना नाम, गाँव, पोस्ट, और ज़िला तथा अधिक माल मंगानेवालों को अपने स्टेशन का नाम तथा रेलवे लाइन का नाम खूब साफ़-साफ़ अक्षरों में लिख भेजना चाहिए।

सस्ता-साहित्य-मण्डल अजमेर के

प्रकाशन

१—दिव्य जीवन ।=)
२—जीवन साहित्य (दोनों भाग) १=)
३—तामिलवेद ।।।)
४—शैतान की लकड़ी ।।।=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ ।।≡)
६—भारत के स्त्रीरत्न (दोनों भाग) १।।।–)
७—अनोखा! १।=)
८—ब्रह्मचर्य विज्ञान (दूसरी बार छप गया) ।।।–)
९—यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)
१०—समाज-विज्ञान १।।)
११—खद्दर का संपत्ति शास्त्र ।।।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ।।।=)
१३—चीन की आवाज ।–)
१४—दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह (दोनों भाग) १।)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ।।)
१७—सीताजी की अग्नि परीक्षा ।–)
१८—कन्या शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ।)।।
२२—अँधेरे में उजाला ।≡)
२३—स्वामीजी का बलिदान (हिन्दू मुस्लिम समस्या) –)
२४—हमारे ज़माने की गुलामी ।)
२५—स्त्री और पुरुष ।।)
२६—घरों की सफाई)
२७—क्या करें? (दोनों भाग) १।।=)
२८—हाथ की कताई बुनाई ।।=)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन ।।–)

३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे— ।)
३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी कोष २)
३६—स्वाधीनताकेसिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर— ।॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
३९—तरंगित हृदय ॥)
(दूसरी बार छपेगा)
४०—नरमेध ! १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—जिन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा २)
(दोनों खण्ड)
४४—जब अंग्रेज आये १।=)
४५—जीवन विकास १।)
४६—किसानों का बिगुल =)
४७—फाँसी ! ।)
४८—अनासक्तियोग
(दूसरी बार छप गई)
(म० गाँधी) =)
४९—स्वर्ण-विहान
(नाटिका) ।=)
*५०—मराठों का उत्थान और पतन—ले० श्री गोपाल दामोदर तामस्कर
(छप रहा है)
मूल्य लगभग २)
*५१—लोकनायक श्रीकृष्ण
ले० चि० वि० वैद्य
(छप रहा है)
५२—शिक्षा के आधार स्तम्भ
(ले० श्री घ० मश्रुवाला)

---

* नं० ५० वाली पुस्तक अक्टूबर सन् १९३० तक छप जायगी।

